हिन्दी गद्य

(Hindi Prose)

प्रवेश कुमार

हिन्दी गद्य

हिन्दी गद्य
(Hindi Prose)

प्रवेश कुमार

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5630-1

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

राष्ट्रभाषा हिन्दी के गद्य का जन्म बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परन्तु निश्चित समय के विषय में बड़ा मतभेद है। कारण, प्राचीन गद्य ग्रन्थ दुर्लभ हैं। भारत में प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के कितने ही विशाल भण्डार विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। इतिहास इस बात का साक्षी है। राष्ट्र विप्लव के समय भी अनेक प्राचीन ग्रन्थागार विनष्ट हो गए। प्राचीन हस्तलेखों की बहुत बड़ी राशि आज भी देश भर में जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। जो पुरानी पोथियाँ कहीं-कहीं संग्रहालयों में पड़ी हुई हैं, उनमें से भी अधिकांश का निरीक्षण-परीक्षण और अध्ययन-अनुशीलन इस मुद्रण-युग में नहीं हो रहा है। अतः दृढ़-निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन समय में गद्य लिखा ही नहीं जाता था।

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नई क्रांति हुई।

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित

नहीं रहा। पूरे भारत में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	**1**
	आधुनिक काल का नामकरण	5
	अद्यतन काल	9
	आधुनिक काल की परिस्थितियाँ	10
	राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ	12
	द्विवेदी युगीनयुगीन परिस्थितियाँ	13
	धार्मिक परिस्थितियाँ	14
	खड़ी बोली का उद्‌भव और विकास	23
	विशेषताएँ	29
2.	**गद्य साहित्य की विधाएँ**	**31**
	कहानी	31
	परिभाषा	32
	कहानी के तत्व	33
	हिन्दी कहानी का इतिहास	33
	हिंदी आलोचना–स्वरूप और विकास	35
	हिंदी आलोचना–स्वरूप और संकल्पना	36
	हिंदी उपन्यास	42

रांगेय राघव का योगदान 46
हिन्दी रिपोर्ताज का इतिहास 47
नाटक के प्रमुख तत्त्व 49
भाषा शैली 51
देशकाल वातावरण 51
नाटक का इतिहास 52
तृतीय चरण (1947-अब तक) 62
भारत में जीवनचरित 69
छायावादोत्तर युग 71
स्वातंत्र्योत्तर युग 72
समकालीन युग 72
3. भारतेन्दु-युग 76
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन परिचय 77
साहित्यिक परिचय 78
महत्त्वपूर्ण कार्य 84
साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास 86
भारतेंदु-युग और राष्ट्रीय नवजागरण 90
गद्य साहित्य का विकास 104
भारतेन्दु युग में निबंध लेखन 114
भारतेन्दु युगीन प्रतिनिधि रचनाकार 116
पंडित प्रताप नारायण मिश्र 116
पंडित बालकृष्ण भट्ट 118
उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' 120
लाला श्रीनिवास दास 123
पंडित मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या 125
बाबू गदाधर सिंह 127
काशी नागरी प्रचारिणी सभा 128
4. द्विवेदी युग 130
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 135
द्विवेदीयुगीन नाटक 143
पौराणिक नाटक 144

द्विवेदी युग में निबंध लेखन 147
द्विवेदी युगीन प्रतिनिधि रचनाकार 149
बाबू मैथिलीशरण गुप्त 150
पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' 153
पंडित राम नरेश त्रिपाठी 154
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' 157
5. प्रसाद-युग 162
जीवनवृत्त 163
छायावाद की स्थापना 171
प्रसाद-युग में निबंध लेखन 179
प्रेमचंद 181
जीवन परिचय 182
कार्यक्षेत्र 183
लेख-निबंध 187
अनुवाद 187
प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद 189
मुंशी के विषय में विवाद 189
6. प्रसादोत्तर-युग 193
प्रसादोत्तर-युगीन नाटक 193
प्रसाद-प्रेमचन्द युग में कहानी 202

1

विषय बोध

हिन्दी-गद्य शैली का इतिहास बहुत विस्तृत है। तब भी संक्षेप में यहाँ उसकी चर्चा करना आवश्यक है। केवल कुछ मुख्य बातों का उल्लेख करके उसका दिग्दर्शन कराना पाठकों के लिए उपयोगी होगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के गद्य का जन्म बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परन्तु निश्चित समय के विषय में बड़ा मतभेद है। कारण, प्राचीन गद्य ग्रन्थ दुर्लभ हैं। भारत में प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के कितने ही विशाल भाण्डार विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। इतिहास इस बात का साक्षी है। राष्ट्र विप्लव के समय भी अनेक प्राचीन ग्रन्थागार विनष्ट हो गए। प्राचीन हस्तलेखों की बहुत बड़ी राशि आज भी देश भर में जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी है। जो पुरानी पोथियाँ कहीं-कहीं संग्रहालयों में पड़ी हुई हैं उनमें से भी अधिकांश का निरीक्षण-परीक्षण और अध्ययन-अनुशीलन इस मुद्रण-युग में नहीं हो रहा है। अतः दृढ़-निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन में गद्य लिखा ही नहीं जाता था।

अनेक प्राचीन संस्कृति-ग्रन्थों में गद्य का रूप मिलता है। फिर संस्कृत भाषा से आविर्भूत और संस्कृत-साहित्य से पूर्णतः प्रभावित हिन्दी में गद्य का अभाव मानना तर्क-युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। यद्यपि प्राचीन भारतीय साहित्य अधिकतर पद्यबद्ध ही उपलब्ध है तथापि केवल साहित्य-रचना के निमित्त ही पद्य का प्रयोग होता रहा होगा। जनता के सामाजिक व्यवहार में गद्य का अस्तित्व तो अवश्य ही होगा। लोग आपस में बातचीत करने के लिए गद्य का व्यवहार करते होंगे। पत्रचार में भी गद्य

व्यवहृत होता होगा। व्यावसायिक धन्धों, बाजारों, यात्राओं, उत्सवों, प्रशासन-कार्यों, अन्त:प्रान्तीय व्यापारों आदि में पद्यमयी भाषा का उपयोग कदापि नहीं होता होगा। इन सारे कामों में गद्य ही चलता होगा। किन्तु राजनीतिक क्रान्तियों के समय हस्तलिखित साहित्य के प्रचुर परिमाण में नष्ट होते रहने पर भी, लोककण्ठ में बसे रहने के कारण, पद्यमय साहित्य का बहुलांश सुरक्षित रहता चला आया और गद्यमय लिपिबद्ध साहित्य नष्ट हो जाने पर पुन: जन लोक के सामने न आ सका।

देश में राजनीतिक उथल-पुथल के कितने ही अवसर आये और उन भयंकर हलचलों में धन-धन की हानि के साथ-साथ साहित्य की भी अपूरणीय क्षति हुई। बिहार में ही 'नालन्दा' और 'विक्रमशिला' नामक विश्वविद्यालयों में अतिशय विशाल ग्रन्थागार थे, जिन्हें बख्तियार खिलजी ने जला डाला। उनमें पद्यग्रन्थों के अतिरिक्त गद्यग्रन्थ भी अवश्य रहे होंगे। ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाओं के कारण नतीजा यह हुआ कि अब न क्रमबद्ध इतिहास मिलता है और न क्रमबद्ध साहित्य। तब भी असंदिग्ध रूप से यह निश्चित बात कही जा सकती है कि प्राचीन में पद्य-रचना के प्रचलन के साथ-साथ गद्य-रचना का भी प्रचार था।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने विक्रम की तीसरी शती के भरत मुनि द्वारा 'लोकभाषा' के लिए 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग होना लिखा है। यह लोकभाषा या देशभाषा केवल पद्य में ही नहीं, गद्य के लिए भी प्रयुक्त होती रही होगी। विक्रम की सातवीं शती के संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'हर्षचरित' में सातवीं शती के संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'हर्षचरित' में संस्कृत-कवियों के साथ जहाँ भाषा-कवियों का भी उल्लेख किया है, वहां इस बात का सहज ही अनुमान होता है कि देश में संस्कृत के साथ-साथ एक जनभाषा भी थी, जिसमें जनता के अन्दर जनता की ही बोलचाल की भाषा में साहित्य रचना करने वाले कवि यदि विद्यमान थे, तो गद्यकार भी अवश्य ही रहे होंगे। आखिर लौकिक और व्यावहारिक प्रसंगों में गद्य से ही काम लिया जाता होगा। जीवन के नित्य नियमित कार्यों में पद्य का प्रयोग कभी संभव नहीं जान पड़ता।

इस प्रकार 'देशभाषा' के अस्तित्व का पता पाने पर स्वभावत: यह धारणा बंधती है कि विक्रम की तीसरी शती में भी हिन्दी-गद्य का कोई प्राचीन रूप नि:संदेह लोक-प्रचलित रहा होगा और जब अनुमान का सूत्र वहां तक साधारण पहुंच पाता है तब यह नहीं कहा जा सकता कि उस काल के पूर्व गद्य का अस्तित्व था ही नहीं।

जो हो, हिन्दी में जो बचे-खुचे पुराने गद्य ग्रन्थ मिले हैं वे गोरखनाथी पंथ के साम्प्रदायिक ग्रंथ हैं और उनका समय लगभग चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती अनुमित है। उनकी भाषा में प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के भी शब्द पाये जाते हैं। विद्वानों ने उस भाषा को ब्रजभाषा-गद्य का पुराना रूप माना है। कभी देश-भर में ब्रजभाषा का बड़ा व्यापक प्रचार था और यही काव्य भाषा के रूप में भी स्वीकृत तथा सर्वत्रा प्रचलित था, इसलिए ग्रन्थ रचना में ब्रजभाषा-गद्य का भी उपयोग होता था। यह सर्वथा स्वाभाविक है। इसी प्रकार इसके पहले के पुरातन समय में भी काव्य भाषा के साथ गद्य भाषा भी चलती होगी।

प्रस्तुत पुस्तक में गोस्वामी गोकुलनाथजी ही प्रथम गद्यकार के रूप में उपस्थित किये गये हैं, किन्तु उनके पिता गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने भी 'शृंगार-रस-मंडन' नामक एक गद्यग्रन्थ लिखा था। विद्वानों के मतानुसार पिता की भाषा से पुत्र की भाषा विशेष व्यवस्थित है। फिर ब्रजभाषा-गद्य का एक और ग्रन्थ भक्त नाभादासजी का 'अष्टयाम' कहा जाता है, जिसका रचना काल विक्र-संवत् 1660 (सन् 1603 ई.) के लगभग है। फिर सं. 1680 वि. (सन् 1623 ई.) के आस-पास की रची हुई दो गद्यात्मक पुस्तकें 'अगहन-माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' की भी चर्चा मिलती है, जिनके लेखक ओरछा-नरेश के आश्रित पंडित वैकुण्ठमणि शुक्ल थे। प्राचीन पोथियों की खोज में ब्रजभाषा-गद्य का 'नासिकेतोपाख्यान' ग्रन्थ भी मिल चुका है, जो विक्रम-संवत् 1760 (1703 ई.) के बाद का रचना हुआ प्रतीत होता है। इन प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि हिंदीगद्य की धारा अतीत काल से चली आ रही है।

वर्तमान युग में प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज होने लगी है। सरकार का ध्यान भी इधर आकृष्ट हुआ है। कुछ साहित्यिक प्रतिष्ठानों और शोध संस्थानों की ओर से यह काम व्यवस्थित रूप में हो रहा है। खोज के विवरण भी प्रकाशित होते हैं। इस तरह से उपलब्ध सामग्री के विधिवत् अध्ययन-मनन से जो परिणाम प्रकट होगा उससे भविष्य में कितने ही नये रहस्य उद्घाटित होंगे। शोध-परम्परा ज्यों-ज्यों अग्रसर होगी, कितनी ही पुरानी स्थापनाएँ परिवर्त्तित होती जायंगी। अत: बहुत संभव है कि हिन्दी के अब तक अप्राप्य पुराने गद्य ग्रन्थों के गवेषणा क्रम में सुलभ होने पर कितनी ही आज तक की धारणाएँ बदल जायं। परिवर्तनशील संसार में यह स्वाभाविक है।

सुरति मिश्र-कृत 'बैतालपचीसी' सं. 1767 (सन् 1710 ई.) की गद्य-रचना है। आगरा-निवासी लल्लूलाल ने फिर उसी को खड़ी बोली में लिखा था, जिसमें

फारसी के भी प्रचलित तथा परिचित शब्द थे। पुनः सं. 1852 वि. (सन् 1795 ई.) में जयपुर-नरेश के आदेश से लाला हीरालाल ने 'आईन अकबरी की भाशा वचनिका' नाम की जो एक बड़ी गद्य-पुस्तक लिखी, उसकी बोलचाल की भाषा में भी अरबी, फारसी के चालू शब्द व्यवहृत थे। किन्तु लल्लूलाल और हीरालाल की भाषा में ही खड़ी बोली के गद्य का पूर्व रूप झलका था, यद्यपि इन दोनों के गद्य में ब्रजभाषा-गद्य की छाप स्पष्ट है।

ब्रजभाषा-गद्य की परम्परा, हिन्दी-काव्यग्रन्थों की टीकाओं में, उन्नीसवीं शती तक चलती रही। किन्तु ब्रजभाषा-गद्य के साथ ही साथ खड़ी बोली का गद्य भी पुराने जमाने से ही चलता आ रहा था। अकबर के समय के गंग कवि की 'चन्दछन्द बरनन की महिमा' नामक गद्य-पुस्तक में ही खड़ी बोली हिन्दी का रूप स्पष्ट हो गया था। यों तो साहित्येतिहास के विद्वान लेखकों के विचारानुसार विक्रम की चौदहवीं शती में ही सुप्रसिद्ध कवि 'खुसरो' ने खड़ी बोली में पद्य और पहेलियाँ लिखकर उसका निखरा हुआ-सा रूप प्रदर्शित कर दिया था, जिससे यह भी आभास मिलता है कि उनके समकालीन समाज में खड़ी बोली के लिखने समझने की क्षमता रही होगी। उक्त विद्वानों ने तो अपभ्रंश भाषा के काव्यों और भक्तिगाथा काल के सन्त कवियों की रचनाओं की सधुक्कड़ी भाषा में भी खड़ी बोली की झलक मिलने का संकेत किया है बौद्ध सिद्धों से कबीर तक की रचनाओं में खड़ी बोली के रूप की छाया देखी गई है।

उपर्युक्त गंग कवि के बाद पटियाला-दरबार के कथावाचक रामप्रसाद निरजनी ने सं. 1798 वि. (सन् 1741 ई.) में 'योगवासिष्ठ' नामक जो ग्रन्थ रचा था, उसी में खड़ी बोली का निखरा हुआ यप पहले-पहले सामने आया। तदनन्तु मध्य प्रदेश के पं. दौलत राम ने 'पुराण' का जो अनुवाद खड़ी बोली में सं. 1818 वि. (सन् 1761 ई.) में किया उसकी भाषा भी 'योगवासिष्ठ' की तुलना में परिमार्जित नहीं मानी गई है, परन्तु इसी के बाद हिन्दी-गद्य के जो चार प्रमुख प्रवर्त्तक हुए मुंशी सदासुखलाल, इन्शा अल्ला खां, लल्लूलाल और सदल मिश्र उन्हीं की भाषा में खड़ी बोली का आधुनिक रूप स्थिर हुआ। प्रथम सज्जन दिल्ली के थे और शेष तीन का परिचय इस पुस्तक में द्रष्टव्य है। मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' फारसी और उर्दू के भी लेखक थे। उनका जन्म सन् 1746 ई. में और देहान्त सन् 1824 ई. में हुआ था। इन्हीं चार सुपरिचित गद्यकारों ने खड़ी बोली को हिन्दी गद्य के क्षेत्र में खड़ा किया। इन चारों से आगे की परम्परा का परिचय प्रस्तुत पुस्तक में मिलेगा।

हिन्दी-गद्य में विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का उद्योग विशेश उल्लेखनीय और चिरसमरणीय है। इन दोनों के बाद हिन्दी-गद्य शैली की जो धारा चली वही आज साहित्य क्षेत्र में प्रखरता से प्रवाहित हो रही है। उस धारा में क्रमशः स्वच्छता और सरसता बढ़ती जा रही है। आज हिन्दी-गद्य का सुविकसित रूप बड़ा आकर्षक हो गया है। दिन-दिन उसकी शक्ति वृद्धि हो रही है। उसके अनेक समर्थ लेखक आज साहित्य के विविध विषयों के क्षेत्र में प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हैं। अब हिन्दी के यशस्वी गद्यकारों की तालिका बहुत लम्बी हो गई है। प्रधान गद्यकारों के नाम भी गिनाना कठिन काम है। हिन्दी गद्य दिनानुदिन प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है। उसका भविष्य निःसन्देह परमोज्ज्वल है।

आधुनिक काल का नामकरण

आधुनिक काल के नामकरण पर भी विद्वानों में मतभेद हैं। शुक्ल जी ने पद्य के स्थान पर खड़ी बोली में साहित्य रचना को लक्षित कर इस काल को गद्यकाल कहा है। इस काल में खड़ी बोली गद्य की विविध विधाओं के विकसित होने की दिशा में नवीन विषयों पर साहित्य रचना होने लगी थी इसलिए इसे आधुनिक काल कहा गया। डॉ. बच्चन सिंह लिखते है–आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है। पहला-मध्यकाल से भिन्नता। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गद्यात्मक बनाया। दूसरा-इकलौकिक दृष्टिकोण। इस समय धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिकों चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिन्ताधारा इकलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण की देन है, आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परिणाम है।

आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में

भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नई क्रांति हुई।

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। पूरे भारत में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है–

(1) भारतेंदु पूर्व युग 1800 ईस्वी से 1850 ईस्वी तक।
(2) भारतेंदु युग 1850 ईस्वी से 1900 ईस्वी तक।
(3) द्विवेदी युग 1900 ईस्वी से 1920 ईस्वी तक।
(4) रामचंद्र शुक्ल व प्रेमचंद युग 1920 ईस्वी से 1936 ईस्वी तक।
(5) अद्यतन युग 1936 ईस्वी से आज तक।

19वीं सदी से पहले का हिन्दी गद्य

हिन्दी गद्य के उद्‌भव को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दी गद्य की शुरूआत 19वीं सदी से ही मानते हैं, जबकि कुछ अन्य हिन्दी गद्य की परम्परा को 11वीं-12वीं सदी तक ले जाते हैं। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की निम्न परम्पराएँ मिलती हैं–

(1) राजस्थानी में हिन्दी गद्य।
(2) ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य।
(3) दक्खिनी में हिन्दी गद्य।
(4) गुरूमुखी लिपि में हिन्दी गद्य।

भारतेंदु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आस-पास हुआ। इस विकास में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज

के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आने वाली खडी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं।

आधुनिक खडी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा, जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं–चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 में प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया है, जिसमे संपादको और देश सुधारको पर व्यंग्य किया गया हैं। कई नाटको में मुख्य कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता हैं।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बडे समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र

में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी, उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। अब कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा, बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। उन्होंने सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियाँ खूब लोकप्रिय हुई। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाटय पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी,

अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएँ एक दूसरे से मिल रही हैं।

आधुनिक काल की परिस्थितियाँ

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत में पहले-पहल भारतेंदु हरिश्चंद्र ने साहित्य के माध्यम से जन-जागरण और हिन्दी भाषा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतेंदु के समय में हिन्दी गद्य की भाषा लगभग बन चुकी थी, पद्य में भी उसका थोड़ा-बहुत प्रयोग किया जाने लगा था। भारतेंदु के प्रोत्साहन और प्रेरणा से कई साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग से हिन्दी भाषा के निर्माण कार्य में योगदान दिया। प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट जैसे साहित्यकार हिन्दी का विभिन्न शैलियों में लगातार प्रयोग कर रहे थे, लेकिन इसके बावजूद भी हिन्दी व्याकरण-सम्मत और मानक भाषा नहीं बन पा रही थी। ऐसी स्थिति में सन् 1903 ईस्वी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक का पद संभालते हैं और हिन्दी भाषा के निर्माण का दायित्व बखूबी निभाते हैं।

द्विवेदी जी का दौर नवजागरण का था। उस समय अखिल भारतीय स्तर पर अनेक सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी आन्दोलन चल रहे थे। इन आन्दोलनों में एक ओर भारतीय इतिहास और संस्कृति की महिमा का गान था, तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी चंगुल से मुक्त होने की कामना भी। स्वामी विवेकानंद,

अरविन्द घोष, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जैसे विद्वानों और चिन्तकों की मेधा-शक्ति और स्थापनाओं से जनमानस को सजग करते हुए स्वस्थ दिशा प्रदान करने की कोशिश की जा रही थी। पश्चिमी विज्ञान और शिक्षा विकास की नई व्याख्याओं और सम्भावनाओं को प्रस्तुत कर रहे थे। राजनीतिक स्तर पर गांधी जी, जवाहरलाल नेहरु, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, सरदार पटेल जैसे नेताओं के नेतृत्व में स्वाधीनता आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे सजग चिन्तक पर इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उन्होंने युगीन परिस्थितियों के आलोक में स्वाध्याय और चिंतन-मनन द्वारा अपने स्तर पर लेखनी के माध्यम से हिन्दी प्रदेश में नवजागरण का माहौल तैयार किया।

संपूर्ण भारतीय साहित्य में परिवर्तन एवं नवीनता के लक्षण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही दिखाई देने लगे थे। हिंदी साहित्य में भी परिवर्तन हुआ। नयापन आया। इसे नई दिशाएँ मिलीं। नए रूप प्राप्त हुए। नए आयाम मिले। सन् 1850 के आस-पास पाश्चात्य प्रभाव परिलक्षित हुए। मुगलों ने सल्तनत बख्श दी। सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ गई। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हुई। ऐसी नितांत नई बदलती हुई परिस्थितियों ने युग को प्रभावित किया। युग भी बदला। अत: परिवर्तित युग में साहित्य का स्वर भी परिवर्तित होना स्वाभाविक था। सीमित वर्णय-विषय एवं लक्षण-उदाहरण ग्रंथ की परिसीमा को लाँघकर हिंदी साहित्य में आधुनिक काल आया।

'अधुना' अव्यय से 'आधुनिक' शब्द निर्मित हुआ है। इसका अर्थ होता है नया, हाल का अथवा वर्तमान समय का। आज जो 'आधुनिक' है वही कालांतर में पुराना हो जाएगा। साहित्य के इतिहास में अंतिम कालावधि को आधुनिक काल के नाम से जाना जाता है। 'आधुनिक' शब्द नवीनता का सूचक है। वैज्ञानिक-दृष्टि से परिचायक है। इसमें तर्क-वितर्क की प्रवृत्ति समाहित है। साथ ही, यह बौद्धिकता का भी संकेतक है।

भारत एक बहुजातीय देश है। बहुभाषिक राष्ट्र है। विविध धर्मावलंवियों का पीठ स्थान है। भारत की अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है। इसकी अपनी जीवन-प्रकृति है। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म, जीवन-पद्धति, शासन-व्यवस्था का संपर्क पाश्चात्य देशों से हुआ। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे विकास से भारतीय परिचित हुए। भारतीयों ने एक नया अनुभव अर्जित किया। 'विश्वासे मिलई हरि, तर्के बहु दूर' को अग्राह्य किया गया। तर्क के आधार पर,

वैज्ञानिक सूझ-बूझ तथा विचारों ने भारतीयों को प्रभावित किया। भारतीय चिंतकों एवं रचनाकारों ने परिवर्तित जीवनमूल्यों को देखा व समझा। अपने अनुभवों तथा दूरदर्शिता को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान की। इसी बीच एक सौ साठ सालों में अकूत मात्रा में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन हो चुका है। उस साहित्य पर प्रभूत मात्रा में लिखा जा चुका है। आगे भी लिखा जाएगा। युगीन संदर्भ के आधार पर सृजित साहित्य की आलोचना हो रही है। आगे भी होगी, परंतु ध्यान देने की बात है कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में इस कालावधि (लगभग एक सौ साठ वर्षों) में जितने बदलाव आए हैं वे अभूतपूर्व हैं। आदि, भक्ति, रीति काल में वह वैविध्य अप्राप्त है, जो आधुनिक साहित्य में विद्यमान है। समय बदलता गया बड़ी तेजी के साथ। साहित्य के वर्ज्य-विषय, रूप, शैली आदि में द्रुत परिवर्तन परिलक्षित हुआ। 'आधुनिक हिंदी कविता–युगीन संदर्भ' परिवर्तित समय को पहचानने का एक सामान्य प्रयास है। आधुनिक काल में कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने युग को कितने सार्थक रूप में प्रतिबिंबित किया है, इसे प्रस्तुति करने की चेष्टा की गई है।

राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ

आधुनिक काल में देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में जिस प्रकार की उथल-पुथल हुयी और उसके प्रभाव स्वरुप साहित्य में पुनर्जागरण की चेतना सामने आई, राष्ट्रीयता का स्वरुप स्पष्ट होने लगा, हर स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया जाने लगा। राष्ट्रीय चेतनाका विकास होने से देश के प्राचीन गौरव का गुणगान होने लगे, अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध होने लगा, व्यक्ति की निजी संवेदनाएँ, भावनाएँ व विचार अभिव्यक्त होने लगा, साहित्यकारों ने नवीनता का परिचय दिया। हिंदी गद्य के विकास ने जनता की अभिव्यक्ति को सरल व सुगम बना दिया और आधुनिकता का आरम्भ हो गया। काव्य की पहुँच एक सीमित वर्ग तक थी। गद्य की विधाएँ जन-जन तक पहुँची। अंग्रेजों के कारण ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से जनता में जागृति आई, वैज्ञानिक अध्ययन होने लगे। गद्य की इस विविधता व अनेकरूपता को देखकर ही आचार्य शुक्ल ने इस काल को गद्यकाल के नाम से अभिहित किया। साहित्य के सशक्त साधन के रूप में गद्य की अनेक विधाओं का विकास हुआ। प्राचीन संस्कृति के उद्धार की बातें होने लगी, वैचारिक स्वतंत्रता व सामाजिक सुधार की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। भारतेंदु व उनके

सहयोगी लेखको ने साहित्य के माध्यम से, अनेक पत्र पत्रिकाओं के सहारे अपनी बात सामान्य जनता तक पहुँचाने का प्रशंसनीय प्रयास किया।

हिंदी साहित्य के पूर्व कालों में साहित्य विशेष रूप से काव्यमय था। आधुनिक युग में भी काव्य सम्बन्धी अनेक शैलियों का विकास हुआ, साथ ही गद्य की विविध विधाओ–उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध आलोचना का उद्‌भव और विकास भी हुआ। इसलिए विविध शैलियों, साहित्यरूपो, प्रवृत्तियों और विचारधाराओं से परिपूर्ण इस युग को आधुनिक युग कहा जाता है। इस काल के साहित्य में विविधता दिखाई देती है। हिंदी काव्य सर्जना के अनेक मोड़ दृष्टिगत होता है। जिनमें काल्पनिकता और आदर्शवादी भूमिकाओं के स्थान पर यथार्थवादी भौतिकता की रचनाएँ प्रस्तुत हुई. इसी यथार्थवादी भूमिका के कारण इस काल में गद्य साहित्य की विविध धाराओं का भी विकास हुआ, जिनमे जीवन की समस्याओं और संघर्षों का चित्रण मिलता है। भोगे हुए जीवन का वास्तविक चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है। गद्य और पद्य दोनों धाराओं ने आधुनिक काव्य में साहित्य को पुष्ट किया।

द्विवेदी युगीनयुगीन परिस्थितियाँ

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत में पहले–पहल भारतेंदु हरिश्चंद्र ने साहित्य के माध्यम से जन–जागरण और हिन्दी भाषा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतेंदु के समय में हिन्दी गद्य की भाषा लगभग बन चुकी थी, पद्य में भी उसका थोड़ा–बहुत प्रयोग किया जाने लगा था। भारतेंदु के प्रोत्साहन और प्रेरणा से कई साहित्यकारों ने अपने–अपने ढंग से हिन्दी भाषा के निर्माण कार्य में योगदान दिया। प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट जैसे साहित्यकार हिन्दी का विभिन्न शैलियों में लगातार प्रयोग कर रहे थे लेकिन इसके बावजूद भी हिन्दी व्याकरण–सम्मत और मानक भाषा नहीं बन पा रही थी। ऐसी स्थिति में सन् 1903 ईस्वी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक का पद संभालते हैं और हिन्दी भाषा के निर्माण का दायित्व बखूबी निभाते हैं।

द्विवेदी जी का दौर नवजागरण का था। उस समय अखिल भारतीय स्तर पर अनेक सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी आन्दोलन चल रहे थे। इन आन्दोलनों में एक ओर भारतीय इतिहास और संस्कृति की महिमा का गान था, तो दूसरी ओर साम्राज्यवादी चंगुल से मुक्त होने की कामना भी। स्वामी विवेकानंद,

अरविन्द घोष, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर जैसे विद्वानों और चिन्तकों की मेधा-शक्ति और स्थापनाओं से जनमानस को सजग करते हुए स्वस्थ दिशा प्रदान करने की कोशिश की जा रही थी। पश्चिमी विज्ञान और शिक्षा विकास की नई व्याख्याओं और सम्भावनाओं को प्रस्तुत कर रहे थे। राजनीतिक स्तर पर गांधी जी, जवाहरलाल नेहरु, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय, सरदार पटेल जैसे नेताओं के नेतृत्व में स्वाधीनता आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे सजग चिन्तक पर इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उन्होंने युगीन परिस्थितियों के आलोक में स्वाध्याय और चिंतन-मनन द्वारा अपने स्तर पर लेखनी के माध्यम से हिन्दी प्रदेश में नवजागरण का माहौल तैयार किया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

भारतीय समाज में अंधविश्वास घर कर चुका था। धर्म ब्रह्मचर्य, ढोंग एवं पाखंड का पर्याय बन चुका था। आधुनिक लेखकों, चिंतकों, कलाकारों, दार्शनिकों, धार्मिक व्याख्याताओं ने अंधविश्वास के स्थान पर तर्क का आश्रय लेने को कहा। वैज्ञानिक दृष्टि से सोच-विचार करने के लिए आग्रह किया। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती आदि ने मनुष्य, समाज एवं देश के विकास के लिए प्रयास किया। भारतीयों में आत्मविश्वास और आत्मसम्मान जगाने का भरसक प्रयत्न किया।

शिक्षा-प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रचार-प्रसार हुआ। देश-विदेश के ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिला तो विद्यार्थियों को ज्ञान के क्षेत्र में नई उपलब्धियाँ हासिल हुईं। समसामयिक विचारकों की वैचारिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में साहित्य को समाज के साथ जोड़ने का प्रयास हुआ। तमाम प्रकार के भेद-भाव, जाति-प्रथा, छूआछूत का विरोध हुआ। शांति, मैत्री एवं प्रीति को बढ़ावा दिया गया। समानता, स्वतंत्रता, राष्ट्रीय चेतना के लिए लोगों को उद्‌बुद्ध करने का भी प्रयास साहित्य में हुआ। वैज्ञानिकता आई और मानवतावाद के समर्थन में कई संस्थाओं ने प्रयास किया। आर्य समाज, रामकृष्ण परमहंस मिशन, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज आदि संस्थाओं ने समय एवं समाज के अनुरूप धर्म को उपयोगी बनाया। आशय यह कि आधुनिक काल के उदय की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं।

इस संदर्भ में एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक है। 1857 का स्वाधीनता संग्राम। यह केवल कारतूसों में निषिद्ध चर्बी के प्रयोग को लेकर कुछ सिपाहियों का विद्रोह न था। अंग्रेज राज की समाप्ति के लिए यह एक जनक्रांति था। बहादुर शाह जफर, लक्ष्मीबाई, अमर सिंह, तांत्या टोपे आदि के बलिदान से पराधीन भारतीय जनता ने प्रेरणा ली। वह उद्‌बुद्ध हुई। मंगल पांडे का विद्रोह सामने आया। उसने तीन अंग्रेज सेनाधिकारियों को गोली मारकर हत्या कर दी। मंगल पांडे को फाँसी पर चढ़ाया गया, परंतु स्वाधीनता संग्राम को बल मिला। स्वतंत्रता की प्राप्ति की कामना बलवती हुई। तत्कालीन रचनाकारों ने इस घटना से प्रेरणा लेते हुए स्वाधीनता संग्राम को रचना का विषय बनाया। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने नाटक 'भारत दुर्दशा' (1875) में रेल, डाक-तार, सड़क आदि भौतिक सुविधाओं के लिए 'सुख-साज' कहकर व्यंग्य किया तो भारत के आर्थिक शोषण, चुंगी की पीड़ा आदि का मर्मस्पर्शी चित्रण करते हुए उल्लेख किया है–

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुदर्शा न देखी जाई॥
अंग्रेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अजि ख्वारी॥
ताहू पै महँगी, काल, रोज बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हारी॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

आधुनिक हिंदी कविता की यात्रा को कभी आदर्शवाद ने प्रभावित किया तो कभी अस्तित्ववाद ने। कभी यह अतियथार्थवाद से प्रभावित हुई तो कभी मानवतावादी विचारधारा से। मार्क्सवादी विचारधारा, समाजवाद एवं साम्यवाद, प्रतीकवाद और बिंबवाद आदि से भी आधुनिक हिंदी कविता प्रभावित है। साथ ही, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण परमहंस मिशन, आर्य समाज, गांधीवादी विचारधारा आदि भारतीय जीवन दृष्टियाँ समावेशित हैं। भारतीय आधुनिक युग की वैचारिक पृष्ठभूमि में पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों का भावनात्मक मिश्रण मिलता है। बुद्धि एवं हृदय के समन्वित मिश्रण से आधुनिक हिंदी कविता संपन्न है। समृद्ध हुई है।

आधुनिक काल में हिंदी के शताधिक कवि प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने कविता के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं। इनमें से कुछ ही कवि-साहित्यकारों को इस पुस्तक में सम्मिलित किया गया है। वास्तव में अध्ययन-अध्यापन के दौरान कई विचार मन में उठते रहे। उन विचारों को सूत्रबद्ध करने का एक मामूली प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं काव्योत्तर प्रसंग भी उठाए गए हैं, जैसे नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रयास यह रहा है कि कविता के अतिरिक्त कवि का युगीन संदर्भ किस रूप में उभर कर सामने आया है। अंतिम अध्याय में सांप्रदायिकता के संदर्भ को प्रेमचंद के साहित्य के माध्यम से रूपायित करने की कोशिश की गई है। यह लोगों को अनावश्यक प्रतीत हो सकता है, परंतु सांप्रदायिकता की चपेट में आज पूरी दुनिया आ चुकी है। देश तो बँट ही रहा है, मनुष्य भी खंडित-विखंडित होता जा रहा है, अनास्था का भाव जोरों पर है तो अविश्वास और संदेह के घेरे में मनुष्य कुंठाग्रस्त हो रहा है। बाजारवादी अर्थ व्यवस्था के चलते मानवीयता कोरी साबित होने की कगार पर है। ऐसे में आस्था, विश्वास, शांति, मैत्री, सद्भाव की प्रतिष्ठा आज के समय की माँग है। संबंध टूट रहे हैं और रिश्ते बिखर रहे हैं। संवेदना छीज रही है। उसका क्षरण हो रहा है। बड़ी चिंता है–'क्या हम मनुष्य बन कर रह पाएँगे?' इसलिए इस पुस्तक का अंतिम अध्याय समाप्ति का सूचक नहीं, अनावश्यक भी नहीं। यह एक नए प्रारंभ का निर्देशक है। अत: आवश्यक भी।

आधुनिक काल की साहित्यिक प्रवत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य की अपनी वास्तविक प्रवृति के बारे में काफी भ्रम फैल रहा है। वैसे, किसी अन्य भारतीय साहित्य में प्रचलित प्रवृति एवं वाद का परिचय हिन्दी पाठक देना बुरा नहीं है और हिन्दी के किसी साहित्यिक आन्दोलन के मूल स्रोतों का परिचय देने के लिए सम्भावना के रूप में यदि यूरोप के किसी वाद की चर्चा की जाये तो उस पर भी शायद किसी को आपत्ति हो, किन्तु हिन्दी में अनेक प्रचलित-अप्रचलित देशी-विदेशी वादों को अन्धाधुन्ध चर्चा का निवारण होना चाहिए। नि:सन्देह यह प्रवृति व्यावसायिक पुस्तकों में विशेष रूप से उभर कर आयी है, किन्तु सन्दर्भ के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले सम्मानित साहित्य-कोशों ने भी इस भ्रम के प्रसार में काफी योगदान किया है।

किसी एक साहित्य में प्रचलित वाद के दो-एक अन्यत्र भी मिल सकते हैं, किन्तु इससे किसी साहित्य में उस वाद का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता।

विभिन्न साहित्यिक वादों के उत्थान और पतन के इतिहास से परिचित अध्येता जानते हैं कि हर वाद अपने साहित्य एवं समाज के विशेष परिवेश के अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और उसके आंदोलन के पीछे एक इतिहास है। उदाहरण के लिए फ्रान्सीसी प्रतीकवाद और अग्रेजी बिम्बवाद अपने-अपने निश्चित देशकाल से सम्बद्ध हैं, इसलिए हिन्दी में वादों की चर्चा करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि अपने यहाँ ये वाद किसी साहित्यिक आन्दोलन के रूप में चले या नहीं और कुल मिलाकर इन्होंने हमारी साहित्यिक परम्परा में क्या योगदान दिया ? कहना न होगा कि हिन्दी में प्राय: इस विवेक को पीठ ही दी गयी है।

पिछले युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समकालीन छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य-प्रवृतियों की समीक्षा करते हुए क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, पश्चिमी कलावाद, फ्रान्सीसी प्रतीकवाद आदि की विस्तृत आलोचना की थी क्योंकि अनका ख्याल था कि पाश्चात्य साहित्य की ये पतनोन्नमुख प्रवृतियाँ हिन्दी साहित्य पर भी दूषित प्रभाव डाल रही हैं। फिर क्या था वाद के लेखकों को कलम चलाने के लिए राजमार्ग मिल गया और इन वादों पर इस तरह लिखा जाने लगा जैसे कोई उनके घर की चीज हो। हिन्दी में अभिव्यजंनावाद को इतनी चर्चा देखकर कभी-कभी भ्रम होने लगता है कि क्रोचे इटली में नहीं, बल्कि भारत में ही पैदा हुआ था।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। शुक्ल जी ने क्रोचे की कड़ी आलोचना की पीछे हिन्दी के दस अध्यापक क्रोचे के समर्थन में खड़े हो गये जैसे क्रोचे के साथ सहानुभूति दिखाना अत्यन्त आवश्यक हो गया हो। यह भी 'अतिथि देवो भव' के भारतीय आदर्श का उदाहरण है। किसी ने इस बात का पता लगाने का कष्ठ नहीं उठाया कि स्वयं यूरोपीय साहित्य में रचना के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद पर यह टिप्पणी है कि साहित्य रचना इसका प्रभाव न्यूनतम है–सिर्फ दो-तीन अभिव्यंवजनावादी नाटकों को छोड़कर और कुछ नहीं लिखा गया, दूसरी ओर 'हिन्दी साहित्य कोश' है, जिसमें इस प्रकार के किसी तथ्य का उल्लेख नहीं है। हिन्दी पर पाश्चात्य प्रभाव का भी एक उदाहरण है।

अभिव्यंजनावाद के साथ ही शुक्ल जी ने 'पहले से सावधान करने के लिए' सन् 1934 ई. के इन्दौर वाले भाषण में ही संवेदनावाद (इमेप्रेशनिज्म) एवं मूर्तविधावाद (इमैजिज्म) की भी संक्षिप्त एवं सारगर्भित आलोचना की थी, किन्तु

वर्षों तक आलोचकों का ध्यान उनकी ओर गया ही नहीं, यहाँ तक हिन्दी में जब यंत्र-तंत्र उन वादों का प्रभाव काव्य-रचना में प्रगट होने लगे तब भी उनको पहचानने वाली दृष्टि नहीं दिखाई पड़ी। आज भी इन वादों पर चर्चा होती है, तो उनका रूप बहुत कुछ हवाई ही होता है, जैसा इसके पहले हिन्दी में कभी इनकी चर्चा हुई ही न हो। अपनी साहित्य परम्परा के बाद का यह भी एक उदाहरण है। इससे प्रकट है कि हिन्दी के बहुत से साहित्यिक अपनी परम्परा से अधिक यूरोपीय साहित्य की सूचना रखते हैं।

हिन्दी में वाद-विस्तार की विडंबना उस समय चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है, जब हम 'समाजवादी यथार्थवाद' सम्बन्धी चर्चा पर पहुँचते हैं। उत्साही लेखकों ने हिन्दी उपन्यासों में 'समाजवादी यथार्थवाद' की एक धारा निरूपित कर दी है, क्योंकि हिन्दी के कुछ उपन्यासों के लेखक कम्यूनिष्ट हैं 'समाजवादी यथार्थवाद' के लिए प्रयत्न करने वाले रूसी उपन्यासकारों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारत में समाजवाद की स्थापना होने से पहले ही साहित्य में 'समाजवादी यथार्थवाद' की नीव पड़ गयी। जहाँ रूस में समाजवाद की स्थापना करने के वर्षों बाद समाजवादी समाज की आवश्कताओं को देखते हुए 'समाजवादी यथार्थवाद' के साहित्य-सिद्धान्त का निर्माण हुआ, वहाँ भारत में अभी से साहित्य के अन्दर भविष्य के लिए सिद्धान्तों एवं रचनाओं का निर्माण हो रहा है। भारतीय दूरदर्शिता का यह सबसे सर्वोत्तम उदाहरण है।

संक्षेप में इन वादों की चर्चा से स्पष्ट है कि हिन्दी आलोचना में आज भी 'हमारे यहाँ सब कुछ है' वाली प्रवृति काम कर रही है। जिस प्रकार पिछले युग में किसी यूरोपीय विचारधारा को एक साँस में अभारतीय कहकर विरोध किया जाता था और दूसरी साँस में अभारतीय कहकर विरोध किया जाता था और दूसरी साँस में उसे अपने यहाँ पहले ही मौजूद बतलाकर आत्मगौरव बढ़ाने की कोशिश की जाती थी, उसी प्रकार अन्तर्विरोध का हास्यापद रूप आज भी दिखाई पड़ता है। वास्तविकता यह है कि हिन्दी के साहित्य रचना के क्षेत्र में जितने 'वाद' नहीं हैं उनसे कहीं अधिक आलोचना में पढ़ाये जा रहे हैं। जितनी जल्दी यह बकवास बन्द हो, उतना ही अच्छा हो। साहित्य का कल्याण इसी में है। कहना न होगा कि वादों की चर्चा में प्रसंगानुकूलता के वोध की आज कितनी आवश्यकता है।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद चार ही प्रवृत्तियाँ निश्चित रूप से इतिहास-सम्मत हैं, जिन्हें 'वाद' के रूप में प्रचलन की मात्रा प्राप्त है। निःसंदेह इन चारों प्रवृत्तियों के अन्दर आधुनिक

युग का हिन्हीं साहित्य नहीं सिमट जाता, किन्तु यह तथ्य है कि साहित्यिक आन्दोलन के रूप में कुछ दूर तक यहीं वाद चले। वाद-विशेष की स्वभावगत एकांगिता इनमें से हर एक के साथ जुड़ी हुई है। जिसके फलस्वरूप साहित्य-रचना में यंत्र-तंत्र विकृतियाँ भी आयीं, किन्तु इसके साथ यह भी तथ्य है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का जो भी रूप आज दिखाई पड़ रहा है, वह इन्हीं साहित्यिक आन्दोलनों के कारण और हिन्ही साहित्य की वृद्धि में इसका निश्चित ऐतिहासिक योग है।

वस्तुतः ये साहित्यिक आन्दोलन हिन्दी साहित्य की अपनी परम्परा के अन्तर्गत क्रिया-प्रतिक्रिया के एक निश्चित अनुक्रम में उत्पन्न और समाप्त हुए, इसलिए इसके नाम पर ही नहीं, बल्कि रूप पर भी हिन्दी की अपनी छाप है। हो सकता है कि छायावाद और प्रयोगवाद जैसे नाम दूसरे साहित्य के पाठकों के लिए अर्थहीन हों, किन्तु हिन्दी में इन नामों का निश्चित ऐतिहासिक अर्थ है, जो इनके सन्दर्भ से प्राप्त हुआ। इसी प्रकार विविध बाह्य प्रभावों के स्पर्श के बावजूद उन सभी साहित्यिक आन्दोलनों में हिन्दी का अपना वैशिष्ट्य परिलक्षित होता।

विलक्षण समीक्षकों ने कहीं-कहीं इस वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया है, किन्तु स्वीकार करना होगा कि सुस्पष्ठ एवं सुव्यवस्थित ढंग से हिन्दी के उन वादों के निजी जातिगत वैशिष्ट्य होना अभी शेष है—यहाँ तक कि अभी छायावाद के ही हिन्दी जातीय वैशिष्ट्य का तथ्यपूर्ण विवरण सामने नहीं आया है। सहज अनुभव ज्ञान के सहारे आधुनिक हिन्दी का कोई भी पाठक देख सकता है कि कुछ बाह्य प्रभावों के अन्तर्गत लिखे जाने पर भी निराला की 'राम की शक्ति पूजा' हिन्दी की अपनी रचना है। जिसे पढ़ने के बाद कोई भी यह कहेगा कि यह कविता हिन्दी में ही संभव थी और जिसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता विश्व के सम्पूर्ण रामामांटिक काव्य आसानी से पहचानी जा सकती है। चूँकि यह विषय अलग से विस्तृत विचार की अपेक्षा रखता है इसलिए एकाध उदाहरणों के द्वारा इसका संकेत कर देना ही अलम होगा।

प्रसंगात् हिन्दी के 'हालावाद' की चर्चा आवश्यक है। किसी समय पत्रिकाओं में दो-एक कोने से 'हालावाद' की आवाजें आयीं, किन्तु साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में इस वाद को स्वीकृति न मिल सकी। इस वाद के साथ मुख्य रूप से बच्चन की मधुशाला, मधुबाला, मदुकलश आदि संग्रहों की कविताओं का नाम जुड़ा है। वैसे देखा-देखी इस रंग की कुछ और कविताएँ सामने आयीं, किन्तु आगे चलकर एक तो स्वयं बच्चन ने तौबा कर ली, दूसरे साथ देने वाले भी नहीं

आये और इस प्रकार यह प्रवृत्ति किसी व्यवस्थत काव्य आन्दोलन का रूप न ले सकी।

परन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि एक दूसरी संबंध-भावना के स्तर पर यह तथाकथित हालावादी मनोवृत्ति एक दौर के अनेक कवियों में पायी जाती है, जिनमें 'मस्ती' का एक और ही आलम है। बच्चन के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दिनकर एक हद तक नरेन्द्र शर्मा और यहाँ तक कि सुभद्राकुमारी चौहान एवं माखन लाल चतुर्वेदी में भी कमोवेश सहज अक्खड़ता-फक्कड़ता से मिली-जुली रूमानियत मिलती है। निश्चित रूप से उन कवियों के काव्य का 'तेवर' छायावादी कवियों से अलग है और बाद में प्रगतिवाद से भी इनका स्वर भिन्न दिखाई पड़ता है। हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास में इस दौर का स्थान निश्चित है, किन्तु किसी संगठित या व्यवस्थित 'वाद' के रूप में इस प्रकार विचार करना सम्भव नहीं दिखता। यों भी, मस्ती की यह प्रवृत्ति प्रकृत्या वाद-मुक्त है।

श्री विजय देव नारायण साही ने इस काव्य-वृत्ति के लिए 'जवानी का काव्य' नाम सुझाया है (और प्रसंगात् यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस काव्य-प्रवृत्ति पर पहली बार व्यवस्थित विचार उन्होंने ही किया है) परन्तु यह संखया अधिक से अधिक वर्णन के लिए ही उपयोगी हो सकती है। कुछ लोग इसे 'उत्तर छायावादी' प्रवृत्ति अथवा छायावाद का 'परशिष्ठ' भी कहते पाये जाते है, किन्तु इससे उस काव्य-प्रवृत्ति की अपनी विशिष्टता का सही बोध नहीं होता। नि:संदेह यह काव्य-प्रवृत्ति भी हिन्दी की अपनी है, किन्तु नाम रूप दोनों ही दृष्टियों से अनिर्दिष्ट इस काव्य-प्रवृत्ति पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना फिरहाल सम्भव नहीं प्रतीत होता।

साहित्यिक सन्दर्भ

साहित्यिक संदर्भ में ब्रज, अवधी आदि बोलियों में साहित्य का पार्थक्य करने के लिए आधुनिक हिंदी साहित्य को खड़ी बोली साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। यह भारतवर्ष की सर्वाधिक प्रचलित, सरल तथा बोधगम्य भाषा है। बिहार, झारखण्ड, उत्तरप्रदेश, उत्तरांचल, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश एवं हरियाणा हिंदी (खड़ी बोली) भाषा-भाषी राज्य हैं, परंतु इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के कुछ स्थानों को छोड़कर इसका प्रचार न्यूनाधिक समस्त देश में है।

नामकरण

खड़ी बोली अनेक नामों से अभिहित की गई है यथा-हिंदुई, हिंदवी, दक्खिनी, दखनी या दकनी, रेखता, हिंदोस्तानी, हिंदुस्तानी आदि। डॉ. ग्रियर्सन ने इसे वर्नाक्युलर हिंदुस्तानी तथा डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने इसे जनपदीय हिंदुस्तानी का नाम दिया है। डॉ. चटर्जी खड़ी बोली के साहित्यिक रूप को साधु हिंदी या नागरी हिंदी के नाम से अभिहित करते हैं, परंतु डॉ. ग्रियर्सन ने इसे हाई हिंदी का अभिधान प्रदान किया है। इसकी व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। इन विद्वानों के मतों की निम्नांकित श्रेणियाँ है–

(1) कुछ विद्वान खड़ी बोली नाम को बज्रभाषा सापेक्ष मानते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि लल्लू जी लाल (1803 ई.) के बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषा की मधुरता तथा कोमलता की तुलना में उस बोली को दिया गया था जिससे कालांतर में आदर्श हिंदी तथा उर्दू का विकास हुआ। ये विद्वान खड़ी शब्द से कर्कशता, कटुता, खरापन, खड़ापन आदि ग्रहण करते हैं।

(2) कुछ लोग इसे उर्दू सापेक्ष मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत शुद्ध, ग्रामीण ठेठ बोली मानते हैं।

(3) अनेक विद्वान खड़ी का अर्थ सुस्थित, प्रचलित, सुसंस्कृत, परिष्कृत या परिपक्व ग्रहण करते हैं।

(4) अन्य विद्वान् उत्तरी भारत की ओकारांत प्रधान ब्रज आदि बोलियों को पड़ी बोली और इसके विपरीत इसे खड़ी बोली के नाम से अभिहित करते हैं, जबकि कुछ लोग रेखता शैली को पड़ी और इसे खड़ी मानते हैं। खड़ी बोली को खरी बोली भी कहा गया है। संभवत: खड़ी बोली शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग लल्लू जी लाल द्वारा प्रेमसागर में किया गया है, किंतु इस ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर खरी शब्द ही मुद्रित है।

खड़ी बोली की उत्पत्ति तथा इसके संबंध में विभिन्न मत

अत्यंत प्राचीन काल से ही हिमालय तथा विंध्य पर्वत के बीच की भूमि आर्यावर्त के नाम से प्रख्यात है। इसी के बीच के प्रदेश को मध्य प्रदेश कहा जाता है, जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का केंद्रबिंदु है। संस्कृत, पालि तथा शौरसेनी प्राकृत विभिन्न युगों में इस मध्यदेश की भाषा थी। कालक्रम से शौरसेनी प्राकृत के पश्चात् इस प्रदेश में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हुआ। यह कथ्य (बोलचाल

की) शौरसेनी अपभ्रंश भाषा ही कालांतर में कदाचित् खड़ी बोली (हिंदी) के रूप में पारिणत हुई है। इस प्रकार खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है, यद्यपि इस अपभ्रंश का विकास साहित्यक रूप में नहीं पाया जाता। भोज और हम्मीरदेव के समय से अपभ्रंश काव्यों की, जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की झलक दिखाई पड़ती है। इसके उपरांत भक्तिकाल के आरंभ में निर्गुण धारा के संत कवि खड़ी बोली का व्यवहार अपनी सधुक्कड़ी भाषा में किया करते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में लाई गई और उसका मूलरूप उर्दू है, जिससे आधुनिक हिंदी की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई। सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री, डॉ. ग्रियर्सन के मतानुसार खड़ी बोली अंग्रेजों की देन है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस से खड़ी बोली के प्रचार में सहायता पहुँची। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि उर्दू के अनेक शायर पूरब की ओर आने लगे उसी प्रकार दिल्ली के आस-पास के हिंदू व्यापारी जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगे। इनके साथ ही साथ उनकी बोल-चाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की भाषा भी खड़ी बोली हो गई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के संबंध में वे लिखते हैं कि यह समय हिंदी (खड़ीबोली) भाषा के जन्म का समय था, जिसका अविष्कार अंग्रेजों ने किया था और इसका साहित्यिक गद्य के रूप में सर्वप्रथम प्रयोग गिलक्राइस्ट की आज्ञा से लल्लू जी लाल ने अपने प्रेमसागर में किया।

लल्लू जी लाल और पं. सदल मिश्र को खड़ी बोली के उन्नायक अथवा इसको प्रगति प्रदान करने वाला तो माना जा सकता है, परंतु इन्हें खड़ी बोली का जन्मदाता कहना सत्य से युक्त तथा तथ्यों से प्रमाणित नहीं है। खड़ी बोली की प्राचीन परंपरा के संबंध में ध्यानपूर्वक विचार करने पर इस कथन की अयथार्थता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

मुसलमानों के द्वारा इसके प्रसार में सहायता अवश्य प्राप्त हुई। उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं, बल्कि खड़ी बोली की ही एक शैली मात्रा है, जिसमें फारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता पाई जाती है तथा जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। उर्दू साहित्य के इतिहास पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित है।

अनेक मुसलमान कवियों ने फारसी मिश्रित खड़ी बोली में, जिसे वे 'रेख्ता' कहते थे, कविता की है। यह परंपरा 18वीं-19वीं शती में दिल्ली के अंतिम बादशाह बहादुरशाह तथा लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिदअली शाह तक चलती रही।

साधारणत: लल्लू जी लाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ तथा मुंशी सदासुखलाल खड़ी बोली गद्य के प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं, परंतु इनमें से किसी को भी इसकी परंपरा को प्रतिष्ठित करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है। आधुनिक खड़ी बोली गद्य की परंपरा की प्रतिष्ठा का श्रेय भारतेंदु बाबू हरिशचंद्र एवं राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद को प्राप्त है, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा एक सरल सर्वसम्मत गद्यशैली का प्रवर्तन किया। कालांतर में लोगों ने भारतेंदु की शैली अधिक अपनाई।

वस्तुत: आधुनिक हिंदी साहित्य खड़ी बोली का ही साहित्य है। जिसके लिए देवनागरी लिपि का सामान्यत: व्यवहार किया जाता है और जिसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शब्दों और प्रकृतियों के साथ देश में प्रचलित अनेक भाषाओं और जनबोलियों की छाया अपने तद्भव रूप में वर्तमान है।

खड़ी बोली का उदभव और विकास

डॉ. विश्वनाथप्रसाद ने खड़ी बोली के वर्तमान स्वरूप पर सटीक टिप्पणी करते हुआ लिखा है-'हिंदी का परिनिष्ठत और परिष्कृत रूप इस समय साहित्य में प्रयुक्त हो रहा है, वह किसी एक नगर, जनपद अथवा दो चार जिलों में विकसित नहीं हुआ है। उसके विकास में सदियों से समस्त देश का योग रहा है। असाधरण ज्ञानी और दार्शनिक से लेकर सामान्य किसान तक सभी ने इस भाषा के शब्द-भंडार को समृद्ध किया है। जहाँ तक शब्दावली का संबंध् है, इसका साहितियक रूप पूर्णतया संस्कृत का ऋणी है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अंग्रेजी भाषा का योगदान महत्त्वपूर्ण है। देश की हिंदीतर भाषाएँ भी अनेक क्षेत्रों में अपने चिंतन का सारभाग हिंदी को प्रदान करती रही हैं, किंतु इन नाना दिशाओं से पोषण ग्रहण करते हुए भी हिंदी के परिनिष्ठत रूप की परम्परा अविचिछन्न रही है। यहाँ विश्वनाथ प्रसाद, दकिखनी हिंदी का उदभव और विकास, प्राक्कथन आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास का सामान्यत: प्रस्तुत किया जाने वाला सिद्धान्त तो यही है कि ये क्रमश: संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं से विकसित हुई हैं, लेकिन एक तो यह विकास-प्रक्रिया बहुत मंथर गति

से घटित हुई है, दूसरे अनेक जन-भाषाएँ ऐसी रही हैं, जिनका साहित्यिक प्रदेय भले ही बहुत बाद में सामन हो, लेकिन जन-संपर्क में उनका असितत्व बहुत पहले से रहा है। एक भ्रांत अवधरणा यह रही है कि खड़ी बोली का इतिहास मात्रा दो सौ वर्ष पुराना है। ऐसा इसलिए मान लिया जाता है कि इसमें रचित साहित्य की अनवरत धरा इतनी ही पुरानी मिलती है, पर इस संबंध् में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का यह कथन ध्यान देने योग्य है–किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का असितत्व ही नहीं है। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में विधमान थी और अब भी बनी हुई है।

उर्दू के विकास के संदर्भ में हमने देखा था कि वर्तमान समय में भारत में जिन भाषाओं में साहित्य की रचना हो रही है, उन्हें अपनाने की प्रक्रिया दसवीं शताब्दी के बाद तीव्र हो गई थी और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते ये जनभाषाएँ भारत में सर्जना का माध्यम बन गई थीं। आधुनिक भारतीय भाषाओं के अपभ्रंश भाषाओं से विकसित होने के सिद्धान्त को भौगालिकता के संदर्भ में देखा जाना भी जरूरी है। वर्तमान दिल्ली तथा इसके हरियाणा और उत्तरप्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली का असितत्व एक हजार वर्ष से कम पुराना नहीं है। खड़ी बोली अपने देशी रूप में किस प्रकार विधमान थी और अब भी बनी हुई है। इसको सिद्ध करने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तो हम्मीरदेव और कबीर की रचनाओं से ठोस उदाहरण दिए ही हैं। उर्दू के विकास के संदर्भ में हम देख आए हैं कि खुसरो की रचनाओं में खड़ी बोली का बहुत स्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। अनेक जगहों पर तो उन्होंने खड़ी बोली और ब्रज का मिश्रित प्रयोग किया है। दो उदाहरण देखें–

यकद्ध पंखा होकर मैं डुली साकी तेरा चाव
मुंज जलती जनम गया तेरे लेखन बाव
यखद्ध गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस
चल खुसरो घर आपने रैद भई चहुँदेस

हमें यहाँ यह नहीं भूलना होगा कि खुसरो की कर्मभूमि दिल्ली थी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल खड़ी बोली का रिश्ता दिल्ली से ही दिखाते हैं। मध्यकाल में दिल्ली के राजनैतिक महत्त्व के बढ़ने के साथ-साथ खड़ी बोली किस प्रकार 'शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा बनती है और खड़ी बोली और रेखता की सीमाएँ किस प्रकार घुलमिल जाती हैं, उसको स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने

लिखा है– 'देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ-साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पध और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से ही फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।'

मध्यकाल में खड़ी बोली का दायरा पश्चिम तक सीमित था। उस समय सत्ता और समृद्धि के केंद्र भी दिल्ली और आगरा थे। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्थितियाँ बहुत बदल गई थीं। इस बदलाव ने खड़ी बोली के प्रसार को भी बहुत प्रभावित किया। इन बदली स्थितियों का जायजा लेते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरा आदि पछांही शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नयी राजधानियाँ चमक उठी। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू शायर पूरब की और आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आस-पास के हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी देशों में फैलने लगी। उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी उनके साथ-साथ लगी चलती थी। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की उर्दुए मुअल्ला नहीं।

यहाँ यह उल्लेख अपेक्षित है कि जिस भाषा को हम खड़ी बोली कह रहे हैं, उसका यह नाम उतना पुराना नहीं है, जितनी यह भाषा। प्राकृतों एवं अपभ्रंशों के तो अपने क्षेत्र-आधरित-नाम हैं। खुसरो के समय खड़ी बोली का नाम देहलवी ही रहा होगा, यह पता अनेक लेखकों के कथनों से चलता है। इसका संबंध वुफरु जनपद से होने के कारण राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'कौरवी कहा है। भाषावैज्ञानिकों ने कौरवी का उदभव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से माना है। इस भाषा का विस्तार-क्षेत्र सहारनपुर, मेरठ, गाजियाबाद, दिल्ली, सोनीपत, बिजनौर, रामपुर

तथा मुरादाबाद माना जाता है। लेकिन इस रूप में 'कौरवी एक सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली हिंदी की एक बोली है, जबकि आज खड़ी बोली शब्द से वर्तमान मानक हिंदी का ही अर्थ लिया जाता है। भाषा का यह मानक अंग्रेजी के standing या standard से जुड़ा हो सकता है। यों किसी ने खड़ी में खरी की ध्वनि सुनी है तो किसी ने इसे 'खड़े स्वभाव से संबद्ध किया है। सार यह है कि आज खड़ी बोली भारत की प्रमुख संपर्क भाषा 'हिंदी का पर्याय है।

खड़ी बोली ने दिल्ली की बोलचाल की भाषा से चलकर भारत की राष्ट्रभाषा बनने का जो लंबा सफर तय किया है, उसमें इसकी अनेक भूमिकाएँ रही हैं। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य से खड़ी बोली के जो उदाहरण दिए जाते हैं, उनमें प्रायः इसकी उपस्थिति ब्रजभाषा के साथ मिलती है। आरंभिक युग में यह दैनिक व्यवहार, व्यापार और लोक-संपर्क की भाषा रही होगी। समय बीतने के साथ खड़ी बोली हिंदी की भूमिकाएँ क्रमशः विकसित होती रही हैं। साहित्य-रचना में प्रमुखता से व्यवहृत न होने के कारण इसकी लंबे समय तक लोक-कंठ में उपस्थिति रही होगी। इसके लोकगीतों की समृद्ध परम्परा तो अब तक विद्यमान है। अठारहवीं शताब्दी में जब खड़ी बोली का गद्य पनपने लगता है तो पश्चिमी क्षेत्रों में राज्याश्रय अथवा जन-सामान्य में इसका प्रयोग धर्मोपदेश हेतु विशेष रूप से हुआ है। शुक्ल जी ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में रामप्रसाद निरंजनी द्वारा रचित एक ऐसे ही धर्मोपदेशक ग्रंथ 'भाषा योग वशिष्ठ का उल्लेख किया है। संवत 1798 में रचित इस ग्रंथ में खड़ीबोली गद्य का बहुत निखरा हुआ और परिनिष्ठत प्रयोग देखा जा सकता है। अनुवाद रूप में जैन धर्म के प्रचार के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है, लेकिन इसाई मिशनरियों द्वारा विशेष रूप से प्रयुक्त होने से खड़ीबोली गद्य का विकास गति पकड़ता है।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक भारत अंग्रेजों का उपनिवेश बन चुका था। अंग्रेजों द्वारा प्रशासन और धर्म-प्रचार के लिए हिंदी गद्य के विकास की आवश्यकता अनुभव की गई। 1860 में स्थापित फोर्ट विलियम्स कालेज का एक लक्ष्य खड़ीबोली गद्य का विकास भी था। इस कालेज से जुड़े चार लेखकों का योगदान हिंदी गद्य के विकास में सर्वाधिक माना जाता है। वे लेखक हैं– मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशा अल्ला खां, लल्लू लाल और सदल मिश्र। सैयद इंशा अल्ला खाँ उस समय जन-सामान्य से जुड़ी कैसी चुलबुली भाषा लिख रहे थे, उसका एक नमूना देखा जा सकता है–

इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछतागी और अपना किया पाओगी। मुझ से कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बंत होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कह कर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी।

इस क्रम में आगे चलकर अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं से हिंदी गद्य को समृद्ध किया राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और राजा लक्ष्मण सिंह ने। अब खड़ी बोली क्रमशः ज्ञान-विज्ञान की और न्यायालय की भाषा भी बनने लगी। खड़ी बोली उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण का भी सशक्त माध्यम बनती है और यह संभव होता है इसके पत्रकारिता की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने में। इसी क्रम में शिक्षा-माध्यम के रूप में भी इसका पक्ष लिया जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते यह किस प्रकार राष्ट्रीय गौरव एवं स्वाभिमान का प्रतीक बनती है, इसका पता हमें फ्रैडरिक पिन्काट द्वारा बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री को सं. 1943 के लगभग लिखे इस पत्र से चलता है। जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास के पृष्ठ 262 पर उद्धृत किया है– 'आपका सुखद पत्र मुझे मिला और उससे मुझको परम आनन्द हुआ। आपकी समझ में हिंदी भाषा का प्रचलित होना उत्तर पश्चिमवासियों के लिए सबसे भारी बात है। मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार संबंधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं, तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसीलिये मैंने बार-बार हिंदी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में परिनिष्ठत भाषा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति का यह परिणाम था कि अब इसमें धराप्रवाह साहित्य-रचना होने लगी। यह जरूर है कि पहले यह गद्य साहित्य की भाषा बनी और थोड़ा विलम्ब में यह पध साहित्य की भाषा बनी। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों की रचनाओं ने हिंदी के खड़ीबोली रूप को अखिल भारतीय स्वीकृति दिलाई। बीसवीं सदी के आरंभ में ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब 'सरस्वती पत्रिका' का संपादन-भार संभाला तो उन्होंने कविता की भाषा को भी खड़ी बोली में बनाने का संकल्प ले लिया।

गत दो सौ वर्षों में खड़ी बोली में रचित साहित्य में असीम गुणात्मक एवं मात्रात्मक वृद्धि हुई है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना, संस्मरण आदि वे विधाएँ जिनका हिंदी में असितत्व ही नहीं था, बहुत तेजी से विकसित हुई। इस साहित्य की सामाजिक परिवर्तन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पिछली दो शताब्दियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र के बाद हिंदी को हजारों लेखकों ने अपने प्रदेश से समृद्ध किया है। इनमें से शताब्धिक लेखकों का स्थान तो इतिहास में अमर है। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह दिनकर, हरिवंशराय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, स. ही. वा. अज्ञेय केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन और मुकितबोध जैसे कवि, प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल, वंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा जैसे कथाकार, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पंडित नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नगेंद्र और डॉ. नामवर सिंह जैसे आलोचक और सैंकड़ों अन्य विधाओं के लेखक रचनारत रहे हैं।

यहाँ न तो उनके इस विपुल साहित्य के उद्धरण का अवकाश है और न ही उनके मूल्यांकन का प्रसंग। यहाँ तो यही उल्लेख प्रासंगिक है कि इन लेखकों ने खड़ी बोली की अनेक शैलियों का विकास किया है। कहीं हिंदी की तत्सम-प्रधन शैली दिखाई देती है तो कहीं तद्भवता को प्रमुखता मिली है। कहीं आंचलिकता के दर्शन होते हैं तो कहीं चटकीले लोकरंग दिखाई देते हैं। कहीं इसमें राजभाषा की औपचारिकता मिलती है तों कहीं तकनीकी शब्दों की ज्ञान-निधि की संपन्नता।

यदि संरचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो बीसवीं सदी के आरंभ में खड़ी बोली में तत्सम शब्दों का समावेश बहुत तेजी से होता है। आलोचना में जो यह प्रवृत्ति अब भी देखी जा सकती है, जबकि कविता और कथा-साहित्य में शैली-वैविध्य मिलता है। प्रसाद और पंत तत्सम-प्रधन भाषा का प्रयोग किया है। निराला ने अलग-अलग संदभों में अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया है। प्रेमचंद की भाषा जन-सामान्य के बहुत नजदीक है। बाद में फणीश्वरनाथ रेणु ने आंचलिक भाषा का प्रभावशाली प्रयोग किया है। खड़ी बोली हिंदी की समृद्धि का आधर इसमें निरंतर देशज शब्दों के समावेश और विदेशी भाषाओं के शब्दों आधार को ग्रहण करना है।

अपने अखिल भारतीय महत्त्व के आधर पर ही खड़ी बोली हिंदी स्वतंत्रता-संग्राम की संयोजक भाषा भी बनती है, जिसके आधर पर इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति मिली। क्रमशः भारतीय संविधन में खड़ी बोली हिंदी को राजभाषा का पद दिया गया। अब इसमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली का विशेष रूप से विकास किया गया, जिससे इसको प्रशासनिक कार्यों एवं शिक्षा-माध्यम के रूप में विशेष स्थान मिला।

भारतीय साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि खड़ी बोली में जहाँ अनेक शैलियों में और अनेक विधाओं में विपुल साहित्य-सर्जना हुई है वहीं भारत की ही नहीं विश्व की अनेक भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य अनूदित रूप में इसमें उपलब्ध होता है। इससे इन भाषाओं की समर्द्ध विरासत को हिंदी के माध्यम से ग्रहण करना संभव हुआ है। भारतीय संस्कृति का एक समग्र बिंब खड़ी बोली के माध्यम से सरलता से ग्रहण किया जा सकता है।

विशेषताएँ

खड़ी बोली हिन्दी भी अन्य भारतीय भाषों की तरह संस्कृत पर आधारित है, पर इसने संस्कृत का अंधानुकरण नहीं किया है। इसकी अपनी प्रकृति है। इसने संस्कृत वर्णमाला और उच्चरण को अपनाया है और संस्कृत की अधिकतर ध्वनियों को ग्रहण किया है।

यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसमें ध्वनि प्रतीकों स्वर और व्यंजन का क्रम वैज्ञानिक है। स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ के लिए अलग-अलग मात्राएँ हैं और स्वरों की मात्राएँ निश्चित हैं। अल्पप्राण और महाप्राण ध्वनियों के अलग-अलग लिपि-चिह्न हैं। जैसे क अल्पप्राण और ख महाप्राण ध्वनि। इसमें पहले जिन ध्वनियों के लिए चिह्न नहीं थे, उन्हें बाद में बना लिया गया है। जैसे क, ख, ग, ज, फ, घ, ऑ इत्यादि। इसमें तीन संयुक्त व्यंजन हैं श्र, त्रा और ज्ञ। इनके अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक व्यंजन गढ़ लिए गए हैं। जैसे ड़, ढ़। इसमें वर्णों के नाम उच्चारण के अनुरूप हैं। यहाँ जो वर्ण जैसा है, उसका सामान्य उच्चारण वैसा ही होता है। इसमें हर ध्वनि के लिए अलग चिह्न हैं। एक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। हिन्दी भाषा जिस रूप में बोली जाती है, उसी रूप में आम तौर पर लिखी जाती है।

महत्त्व

संसार में कुल मिलाकर करीब 2800 भाषाएँ हैं, जिनमें तेरह ऐसी भाषाएँ हैं, जिलके बोलने वालों की संख्या साठ करोड़ से अधिक है। संसार की भाषाओं में हिन्दी को तीसरी स्थान प्राप्त है। इसके बोलने वालों की संख्या तीस करोड़ से अधिक है।

खड़ी बोली हिन्दी हमारे देश की एक जीवित और सशक्त भाषा है। हमारे देश में यह युग-युग से विचार-विनिमय का माध्यम रही है। इसने बहुत-से देशी-विदेशी शब्दों, मुहावरों, कहावतों और अन्य भाषाओं की अनेक ध्वनियों को अपनाया और अपने शब्द-भंडार और अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध किया है। यह सरल भाषा है, इसलिए दिन-प्रतिदिन इसका प्रचार-प्रसार बढ़ता जा रहा है।

निष्कर्ष यह कि हिन्दी ने देशी-विदेशी अनेक शब्दों को ग्रहण कर और अपने परिवार की अनेक बोलियों और अन्य भाषाओं के प्रभावकारी तत्वों और शक्तियों को मिलाकर एक ऐसी परिष्कृत खड़ी बोली का शानदार रूप गठित किया है, जो आज राष्ट्रभाषा का गौरव बन गई है।

2

गद्य साहित्य की विधाएँ

कहानी

कहानी हिन्दी में गद्य लेखन की एक विधा है। उन्नीसवीं सदी में गद्य में एक नई विधा का विकास हुआ, जिसे कहानी के नाम से जाना गया। बंगला में इसे गल्प कहा जाता है। कहानी ने अंग्रेजी से हिंदी तक की यात्रा बंगला के माध्यम से की। कहानी गद्य कथा साहित्य का एक अन्यतम भेद तथा उपन्यास से भी अधिक लोकप्रिय साहित्य का रूप है। मनुष्य के जन्म के साथ ही साथ कहानी का भी जन्म हुआ और कहानी कहना तथा सुनना मानव का आदिम स्वभाव बन गया। इसी कारण से प्रत्येक सभ्य तथा असभ्य समाज में कहानियाँ पाई जाती हैं। हमारे देश में कहानियों की बड़ी लंबी और सम्पन्न परंपरा रही है। वेदों, उपनिषदों तथा ब्राह्मणों में वर्णित श्यम-यमी', 'पुरुरवा-उर्वशी', 'सौपर्णी-काद्रव', 'सनत्कुमार- नारद', 'गंगावतरण', 'श्रृंग', 'नहुष', 'ययाति', 'शकुन्तला', 'नल-दमयन्ती' जैसे आख्यान कहानी के ही प्राचीन रूप हैं।

प्राचीनकाल में सदियों तक प्रचलित वीरों तथा राजाओं के मौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, वैराग्य, साहस, समुद्री यात्रा, अगम्य पर्वतीय प्रदेशों में प्राणियों का अस्तित्व आदि की कथाएँ, जिनकी कथानक घटना प्रधान हुआ करती थी, भी कहानी के ही रूप हैं। 'गुणढ्य' की 'वृहत्कथा' को, जिसमें 'उदयन', 'वासवदत्ता', समुद्री व्यापारियों, राजकुमार तथा राजकुमारियों के पराक्रम की

घटना प्रधान कथाओं का बाहुल्य है, प्राचीनतम रचना कहा जा सकता है। बृहत्कथा का प्रभाव 'दण्डी' के 'दशकुमार चरित', 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी', 'सुबन्धु' की 'वासवदत्ता', 'धनपाल' की 'तिलकमंजरी', 'सोमदेव' के 'यशस्तिलक' तथा 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'मृच्छकटिकम्' जैसे अन्य काव्यग्रंथों पर साफ-साफ परिलक्षित होता है। इसके पश्चात् छोटे आकार वाली 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'बेताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शुक सप्तति', 'कथा सरित्सागर', 'भोजप्रबन्ध' जैसी साहित्यिक एवं कलात्मक कहानियों का युग आया। इन कहानियों से श्रोताओं को मनोरंजन के साथ ही साथ नीति का उपदेश भी प्राप्त होता है। प्रायः कहानियों में असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की और अधर्म पर धर्म की विजय दिखाई गई हैं।

परिभाषा

अमेरिका के कवि-आलोचक-कथाकार 'एडगर एलिन पो' के अनुसार कहानी की परिभाषा इस प्रकार है: 'कहानी वह छोटी आख्यानात्मक रचना है, जिसे एक बैठक में पढ़ा जा सके, जो पाठक पर एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के लिये लिखी गई हो, जिसमें उस प्रभाव को उत्पन्न करने में सहायक तत्वों के अतिरिक्ष्त और कुछ न हो और जो अपने आप में पूर्ण हो।' हिंदी कहानी को सर्वश्रेष्ठ रूप देने वाले 'प्रेमचन्द' ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार से की है: 'कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।' हिन्दी के लेखकों में प्रेमचंद पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने तीन लेखों में कहानी के सम्बंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं-'कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का संपूर्ण तथा बृहत रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।' कहानी की और भी परिभाषाएँ उद्धृत की जा सकती हैं। पर किसी भी साहित्यिक विधा को

वैज्ञानिक परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि साहित्य में विज्ञान की सुनिश्चितता नहीं होती। इसलिए उसकी जो भी परिभाषा दी जाएगी वह अधूरी होगी।

कहानी के तत्व

रोचकता, प्रभाव तथा वक्ष्ता एवं श्रोता या कहानीकार एवं पाठक के बीच यथोचित सम्बद्धता बनाये रखने के लिये सभी प्रकार की कहानियों में निम्नलिखित तत्व महत्त्वपूर्ण माने गए हैं। कथावस्तु, पात्र अथवा चरित्र-चित्रण, कथोपकथन अथवा संवाद, देशकाल अथवा वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य। कहानी के ढाँचे को कथानक अथवा कथावस्तु कहा जाता है। प्रत्येक कहानी के लिये कथावस्तु का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में कहानी की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कथानक के चार अंग माने जाते हैं-आरम्भ, आरोह, चरम स्थिति एवं अवरोह। कहानी का संचालन उसके पात्रों के द्वारा ही होता है तथा पात्रों के गुण-दोष को उनका 'चरित्र चित्रण' कहा जाता है। चरित्र चित्रण से विभिन्न चरित्रों में स्वाभाविकता उत्पन्न की जाती है। संवाद कहानी का प्रमुख अंग होते हैं। इनके द्वारा पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्य मनोभावों को प्रकट किया जाता है। कहानी में वास्तविकता का पुट देने के लिये देशकाल अथवा वातावरण का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुतीकरण के ढंग में कलात्मकता लाने के लिए उसको अलग-अलग भाषा व शैली से सजाया जाता है। कहानी में केवल मनोरंजन ही नहीं होता, अपितु उसका एक निश्चित उद्देश्य भी होता है।

हिन्दी कहानी का इतिहास

1910 से 1960 के बीच हिन्दी कहानी का विकास जितनी गति के साथ हुआ उतनी गति किसी अन्य साहित्यिक विधा के विकास में नहीं देखी जाती। सन 1900 से 1915 तक हिन्दी कहानी के विकास का पहला दौर था। मन की चंचलता (माधवप्रसाद मिश्र) 1907 गुलबहार (किशोरीलाल गोस्वामी) 1902, पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) 1903, ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) 1903, दुलाईवाली (बंगमहिला) 1907, विद्या बहार (विद्यानाथ शर्मा) 1909, राखीबंद भाई (वृन्दावनलाल वर्मा) 1909, ग्राम (जयशंकर 'प्रसाद') 1911, सुखमय जीवन (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1911, रसिया बालम

(जयशंकर प्रसाद) 1912, परदेसी (विश्वम्भरनाथ जिज्जा) 1912, कानों में कंगना (राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह) 1913, रक्षाबंधन (विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक') 1913, उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1915, आदि के प्रकाशन से सिद्ध होता है कि इस प्रारंभिक काल में हिन्दी कहानियों के विकास के सभी चिह्न मिल जाते हैं। प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी का कथा-साहित्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर मुड़ा और प्रसाद के आगमन से रोमांटिक यथार्थवाद की ओर। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' में यह अपनी पूरी रंगीनी में मिलता है। सन 1922 में उग्र का हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रवेश हुआ। उग्र न तो प्रसाद की तरह रोमैंटिक थे और न ही प्रेमचंद की भाँति आदर्शोन्मुख यथार्थवादी। वे केवल यथार्थवादी थे, प्रकृति से ही उन्होंने समाज के नंगे यथार्थ को सशक्त भाषा-शैली में उजागर किया। 1927-1928 में जैनेन्द्र ने कहानी लिखना आरंभ किया। उनके आगमन के साथ ही हिन्दी-कहानी का नया उत्थान शुरू हुआ। 1936 प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। इस समय के लेखकों की रचनाओं में प्रगतिशीलता के तत्त्व का जो समावेश हुआ उसे युगधर्म समझना चाहिए। यशपाल राष्ट्रीय संग्राम के एक सक्रिय क्रांतिकारी कार्यकर्ता थे, अतः वह प्रभाव उनकी कहानियों में भी आया। अज्ञेय प्रयोगधर्मा कलाकार थे, उनके आगमन के साथ कहानी नई दिशा की ओर मुड़ी। जिस आधुनिकता बोध की आज बहुत चर्चा की जाती है उसके प्रथम पुरस्कर्ता अज्ञेय ही ठहरते हैं। अश्क प्रेमचंद परंपरा के कहानीकार हैं। अश्क के अतिरिक्त वृंदावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर आदि उपन्यासकारों ने भी कहानियों के क्षेत्र में काम किया है। किन्तु इनका वास्तविक क्षेत्र उपन्यास है कहानी नहीं। इसके बाद सन 1950 के आस-पास से हिन्दी कहानियाँ नए दौर से गुजरने लगीं। आधुनिकता बोध की कहानियाँ या नई कहानी नाम दिया गया।

आलोचना

आलोचना या समालोचना (Criticism) किसी वस्तुर्धविषय की, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, उसके गुण-दोषों एवं उपयुक्तता का विवेचन करने वालि साहित्यिक विधा है। हिंदी आलोचना की शुरुआत 19वीं सदी के उत्तरार्ध में भारतेन्दु युग से ही मानी जाती है। 'समालोचना' का शाब्दिक अर्थ है–'अच्छी तरह देखना'।

'आलोचना' शब्द 'लुच' धातु से बना है। 'लुच' का अर्थ है 'देखना'। समीक्षा और समालोचना शब्दों का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' 'ाब्द के समानार्थी रूप में 'आलोचना' का व्यवहार होता है। संस्कृत में प्रचलित 'टीका-व्याख्या' और 'काव्य-सिद्धान्त निरूपण' के लिए भी आलोचना शब्द का प्रयोग कर लिया जाता है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट मत है कि आधुनिक आलोचना, संस्कृत के काव्य-सिद्धान्त निरूपण से स्वतंत्र चीज है। आलोचना का कार्य है किसी साहित्यक रचना की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके रूप, गणु और अर्थव्यस्था का निर्धारण करना।

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास ने आलोचना की परिभाषा इन शब्दों में दी है–

यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। अर्थात् आलोचना का कर्त्तव्य साहित्यक कृति की विश्लेषण परक व्याख्या है। साहित्यकार जीवन और अनभुव के जिन तत्वों के संश्लेषण से साहित्य रचना करता है, आलोचना उन्हीं तत्वों का विश्लेषण करती है। साहित्य में जहाँ रागतत्व प्रधान है वहाँ आलोचना में बुद्धि तत्व। आलोचना ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों और शिस्तयों का भी आकलन करती है और साहित्य पर उनके पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करती है।

व्यक्तिगत रुचि के आधार पर किसी कृति की निन्दा या प्रशंसा करना आलोचना का धर्म नहीं है। कृति की व्याख्या और विश्लेषण के लिए आलोचना में पद्धति और प्रणाली का महत्त्व होता है। आलोचना करते समय आलोचक अपने व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि सेतभी बच सकता है, जब पद्धति का अनुसरण करे, वह तभी वस्तुनिष्ठ होकर साहित्य के प्रति न्याय कर सकता है। इस दृष्टि से हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

हिंदी आलोचना-स्वरूप और विकास

हिंदी की विभिन्न विधाओं की तरह आलोचना का विकास भी प्रमुख रूप से आधुनिक काल की देन है। किसी भी साहित्य के आलोचना के विकास की दो प्रमुख शर्तें हैं–पहली कि आलोचना रचनात्मक साहित्य से जुड़ती हो और दूसरी कि वह समकालीन साहित्य से जुडती हो। हिंदी आलोचना अपने प्रस्थान बिंदु से ही इन दोनों कसौटियों पर खरी उतरती है। आधुनिक काल से पहले आलोचना का स्वरुप प्रमुखतया संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृति हुआ करती

थी। लेकिन आज जो हिंदी आलोचना का स्वरुप है। उसका आरम्भ आधुनिक हिंदी साहित्य के साथ या यों कहा जाय कि साहित्य में आधुनिक दृष्टि के साथ ही साथ हुआ है। हिंदी आलोचना संस्कृत के काव्यशास्त्रीय चिंतन की पृष्ठभूमि को स्वीकार करते हुए नवीन सृजन, नवीन विचारधाराओं और नवीन सामाजिक सरोकारों से टकराते हुए विविध दृष्टियों, प्रतिमानों और प्रवृतियों से युक्त होती चलती है।

हिंदी आलोचना–स्वरूप और संकल्पना

संस्कृत काव्यशास्त्र की पुनरावृति होने के कारण रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय विवेचन में न तो सूक्ष्म विश्लेषण और पर्यालोचन था और न ही मौलिकता ही थी। इसमें काव्यशास्त्रीय रस तो विद्यमान था, लेकिन सामाजिक संदर्भो में उभरते हुए जीवन काव्य का रस नहीं। कुल मिलाकर हिंदी आलोचना का विकास साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी के विकास के सामानांतर हुआ है। आधुनिक गद्य साहित्य के साथ ही हिंदी आलोचना का उदय भी भारतेंदु युग में हुआ। जिस प्रकार देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं एवं विषमता बोध से लगाव के कारण इस काल का साहित्य विकसित हुआ उसी प्रकार आलोचना का भी संबंध यथार्थ बोध से हुआ और यह प्रतीत होने लगा कि रस किसी छंद में नहीं है, बल्कि मानवीय संवेदना के विस्तार में है। हिंदी आलोचना की संकल्पना के सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है, जिसकी ओर विश्वनाथ त्रिपाठी ने संकेत किया है, कि "हिंदी आलोचना पाश्चात्य की नकल पर नहीं, बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यता के कारण जन्मी और विकसित हुई।" यही कारण है कि हिंदी आलोचना, रचनाशीलता की समानधर्मी रही है। हिंदी साहित्य की मुक्तिकामी चेतना के अनुकूल हिंदी आलोचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र की आधार-भूमि से जुड़कर भी स्वाभाविक रूप से रीतिवाद, साम्राज्यवाद, सामंतवाद, कलावाद और अभिजात्यवाद विरोधी और स्वच्छंदताकामी रही है। इसके साथ ही हिंदी आलोचना संस्कृत के शास्त्र सम्मत स्वरूप से इत्तर रचना को केंद्र में स्थापित करती है। रचना और आलोचना की समानधर्मिता या समांतरता को डॉ. राम विलास शर्मा के इस मंतव्य से समझा जा सकता है कि जो काम निराला ने काव्य में और प्रेमचंद ने उपन्यासों के माध्यम से किया वही काम आचार्य शुक्ल ने आलोचना के माध्यम से किया।

हिंदी आलोचना और रचना के गहरे संबंध का सुखद परिणाम यह होता है कि आलोचना या आलोचक अपने विवेचन या मूल्यांकन का परिष्कार रचना के बीच से करते है न कि शास्त्रवाद के साये में। यहीं प्रवृति हम नई कविता के दौर में भी देखते है, जहाँ रचनाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया में हिंदी आलोचना में कुछ अवधारणात्मक शब्द जैसे आधुनिकता, प्रयोगशीलता, प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता, भोग हुआ यथार्थ, लघु मानव, अनुभूति की प्रमाणिकता, अद्वितीय क्षण, व्यक्ति सत्य, मानव मूल्य, विसंगति, विडंबना, तनाव, ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान, सचेतनता, व्यापकता और गहराई, ईमानदारी समझदारी, बिम्ब और सपाटबयानी विकसित होते गए है। जब नई कविता और उसके बाद की कविता में अर्थ की परत सघनतर होती है, अभिव्यक्ति सूक्ष्मतर होती जाती है तो आलोचना भी व्याख्या और निर्णय से आगे बढ़कर रचना के अर्थ-संवर्द्धन को अपना दायित्व मानती है। संक्षेप में और आचार्य शुक्ल के शब्दों को उधार लेकर कहा जा सकता है हिंदी आलोचना अपने स्वरूप और संकल्पना में 'साहित्येतर' और 'उपयोगिता' कसौटी को स्वीकार नहीं करती है।

हिंदी आलोचना का विकास क्रम

हिंदी आलोचना का इतिहास रीतिकाल से थोड़ा पहले शुरू होता है। ऐसा माना जाता है कि 'हिततरंगिणी' के लेखक कृपाराम हिंदी के पहले काव्यशास्त्री थे। लेकिन हिन्दी में 'काव्य रीति' का सम्यक समावेश सबसे पहले आचार्य केशव ने ही किया, जिसका अनुकरण परवर्ती रीतिकालीन आचार्यों और लक्षणकारों ने किया। हिंदी में वार्ता-ग्रंथों, भक्तमालों और उनके टीका-ग्रंथों के रूप में आलोचना की जो प्राचीन परंपरा मिलती है, वह नि:संदेह हिंदी आलोचना का प्रवेश द्वार है। लेकिन आचार्यत्व और कवित्व के एकीकरण के इस दौर में आलोचना लक्षण, उदाहरण और टीकाओं तक ही सीमित थी। हिंदी आलोचना के विकास को हम निम्न अवस्थाओं के अंतर्गत देख सकते हैं–

भारतेंदु युग

भारतेंदु काल में जैसे ही साहित्य रीतिकालीन अन्त:पुर के लीला-विनोद से निकलकर जन-समूह के हृदय के जन-पथ पर अग्रसर हुआ, हिंदी आलोचना भी अपने युगीन साहित्य को समझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के अनुरूप रीतिकालीन केंचुल को उतार कर एक नए चाल में ढल

गई। इस युग के प्रमुख रचनाकार बालकृष्ण भट्ट के "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" सूत्र से साहित्य को परिभाषित किया तो हिंदी आलोचना भी उसके साथ होकर जन समूह की भावनाओं की सारथी बन गई। इस काल में आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के लेखों, टिप्पणियों और निबंधों से विकसित हुई है। 'हरिश्चंद्र मैगजीन', 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', 'भारत मित्र', 'सार सुधानिधि', 'ब्राह्मण' और 'आनंद कादंबिनी' जैसी पत्रिकाओं के लेखों में साहित्य और देश की समस्याओं पर सोचने-विचारने और समाधान निकालने की प्रक्रिया में इस युग की आलोचना दृष्टि विकसित हुई। इस युग में यदि नाटक प्रमुख साहित्यिक विधा थी तो आलोचना का प्रारंभ भी 'नाटक' के स्वरूप पर सैद्धांतिक विवेचन से हुआद्य भारतेंदु ने अपने 'नाटक' विषयक लेख में नाटकों की प्रकृति, समसामयिक जनरुचि और प्राचीन नाट्यशास्त्र की प्रासंगिकता पर विचार किया। इसलिए भारतेंदु को हिंदी साहित्य का प्रथम आलोचक माना जा सकता है।

भारतेंदु के कार्य को बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट ने आगे बढाया। इस युग में किसी सम्पूर्ण कृति के गुण-दोषों की समीक्षा की शुरुआत 'प्रेमघन'और बालकृष्ण भट्ट के द्वारा की गई। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' के एक अंक में बाणभट्ट की 'कादंबरी' की प्रशंसात्मक आलोचना की और एक अन्य लेख में बाबू गदाधर सिंह द्वारा 'बंग-विजेता' नामक बांग्ला उपन्यास के हिंदी अनुवाद की आलोचना करते हुए उपन्यास के अंतरंग-बहिरंग दोनों पक्षों पर विचार किया है। प्रेमघन जी ने 'आनंद कादम्बिनी' में ही लाला श्री निवासदास कृत नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना की। 'संयोगिता स्वयंवर' की समालोचना बालकृष्ण भट्ट ने भी 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से 'हिंदी प्रदीप'में की। भट्ट जी ने ऐतिहासिक आख्यानों के साहित्यिक उपयोग, देशकाल, पात्रों की स्वाभाविकता और रचना की जीवंतता के आधार पर आलोचना की।

द्विवेदी युग

भारतेंदु के बाद हिंदी आलोचना ही नहीं, सम्पूर्ण हिंदी साहित्य पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का सबसे अधिक प्रभाव रहा। आचार्य द्विवेदी हिंदी के प्रथम लोकवादी आचार्य थे और युग-बोध एवं नवीनता के पोषक थे। भारतेंदु से प्रवर्तित हुई हिंदी आलोचना में वैज्ञानिकता की परंपरा को आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और बाबू श्यामसुन्दरदास ने नवीन ज्ञान-विज्ञान के आलोक में विकसित

किया। आचार्य द्विवेदी ने जहाँ 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन के द्वारा आलोचना की भाषा का रूप सुस्थिर किया, वहीं बाबू श्यामसुन्दरदास ने आलोचना के आवश्यक उपादान एकत्र किए, उन्हें व्यवस्थित और संयोजित किया। द्विवेदी युग में सैद्धांतिक और परिचयात्मक आलोचना के साथ-साथ तुलनात्मक, मूल्यांकनपरक, अन्वेषण और व्याख्यात्मक आलोचना की भी शुरुआत हुई। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को "ज्ञान राशि के संचित कोष" के रूप में परिभाषित करते हुए ज्ञान की साधना पर विशेष बल दिया, जिसका रचनात्मक उपयोग साहित्य में तो हुआ ही, आलोचना में भी उपयोग किया गया। आचार्य द्विवेदी के 'कवि और कविता' और 'कविता तथा कवि-कर्त्तव्य' निबंधो में उनकी काव्य विषयक धारणाएँ दृष्टिगत होती है। वे यथार्थ को काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। द्विवेदी जी काव्य-भाषा के लिए अलंकारिता के विरुद्ध सहज, सरल और जन-साधारण की भाषा का समर्थन करते हैं और बोलचाल की हिंदी भाषा को आधुनिक साहित्य की भाषा घोषित किया।

द्विवेदी युग के अन्य प्रमुख आलोचक मिश्र बंधु, पं. पद्म सिंह शर्मा तथा पं. कृष्ण बिहारी मिश्र है। मिश्र बंधुओं को तुलनात्मक आलोचना का पुरस्कर्ता माना जाता है। उनके 'हिंदी नवरत्न' में नवरत्नों का चयन ही कवियों की परस्पर तुलना के द्वारा किया गया था। इन आलोचकों के बीच 'बिहारी और देव' में कौन श्रेष्ठ है, को लेकर कई चरणों में तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। लेकिन मिश्र बंधुओं की दृष्टि रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त नहीं पाई थी। कुल मिलाकर द्विवेदी युगीन आलोचना इतिवृतात्मक और गुण-दोष कथन तक की सीमित रही।

अध्यापकीय आलोचना

अध्यापकीय आलोचना की शुरुआत भी द्विवेदी युग की ही देन है। विश्वविद्यालयों में कई शिक्षक अध्यापन के लिए आलोचनात्मक पुस्तक की कमी को पूरा करने के लिए इस दिशा में अग्रसर हुए। इन अध्यापकों में बाबू श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्थान अग्रणी है। बाबू श्यामसुंदरदास ने एम.ए. के पाठ्यक्रम के लिए 'साहित्यालोचन', 'रूपक-रहस्य' और 'भाषा-रहस्य' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा। हिंदी आलोचना को आधुनिक और गंभीर साहित्यांग के रूप में विकसित करने का प्रयास करने वाला 'साहित्यालोचन' संभवतः प्रथम ग्रन्थ है। बाबू श्यामसुंदरदास शोधपरक आलोचना का भी विशिष्ट उदाहरण है।

शुक्ल युग

हिंदी आलोचना को आलोचना शास्त्र के रूप में व्यवस्थित, गाम्भीर्य और समृद्ध करने का श्रेय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल ने सैद्धांतिक आलोचना को भारतीय साहित्य चिंतन परम्परा और पाश्चात्य साहित्य परम्परा के समन्वय से समृद्ध किया। उनकी आलोचना दृष्टि भारतेंदु युग की उसी सामाजिक-नैतिक चेतना से रूपाकार ग्रहण करती है, जिसका विकास रीतिवाद विरोधी अभियान के रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी में दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल ने निजी पसंद-नापसंद पर आधारित आलोचना को खारिज करके साहित्य के वस्तुवादी दृष्टिकोण का विकास किया। उन्होंने साहित्यिक आलोचना और इतिहास के लिए साहित्येतर और उपयोगितावादी मानदंडों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास'और 'चिंतामणि' के निबंधों के साथ ही सूरदास, जायसी और तुलसीदास के काव्य के व्यवस्थित मूल्यांकन की प्रक्रिया में कुछ बीज शब्द गढ़े, जो आलोचनात्मक प्रतिमान के रूप में स्थापित हुए। 'कवि की अंतर्वृति का सूक्ष्म व्यवच्छेद', हृदय की मुक्तावस्था, 'आनंद की साधनावस्था', 'आनंद की सिद्धावस्था', 'लोक-सामान्य', 'साधारणीकरण', 'लोकमंगल' आदि प्रतिमानों की स्थापना साहित्यिक समीक्षाओं के आधार पर करते है। इसलिए उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में संगति है। वे सूरदास को आनंद की सिद्धावस्था का कवि मानते है तो तुलसीदास को साधनावस्था का और जायसी के काव्य में 'प्रेम की पीर' की व्यंजना को महत्त्व देते है। शुक्ल जी छायावाद के आध्यात्मिक रहस्यवाद को काव्य के क्षेत्र के बाहर की चीज समझते थे।

आचार्य शुक्ल ने उपन्यासों और कहानियों पर भी विचार करते हुए लेखकों से व्यापक सामाजिक-राष्ट्रीय जीवन के चित्रण करने का आग्रह किया है। उनके सहवर्ती आलोचकों में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, बाबू गुलाब राय, पदुमलाल पुन्नालाल बक्सी, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय और रामदहिन मिश्र प्रमुख है, जो अपनी अपनी तरह से शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का ही विस्तार कर रहे थे।

शुक्लोतर हिंदी आलोचना

आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे, लेकिन शुक्लोतर हिंदी आलोचना का विकास शुक्ल जी मान्यताओं के साथ टकराहट के साथ शुरू हुआ।

टकराहट का प्रमुख कारण था और टकराने वालों में छायावाद के प्रति सहानुभूति पूर्ण रुख रखने वाले रचनाकार और समीक्षक थे। शुक्ल जी के समकालीन कवियों में प्रसाद, पन्त और निराला प्रमुख थे जिन्होंने छायावादी काव्य रचना के साथ ही छायावाद के सन्दर्भ में शुक्ल जी मान्यताओं और प्राचीन शास्त्रवादी साहित्य मूल्यों का प्रतिवाद करते हुए छायावादी काव्य रचना को समझने के लिए एक दृष्टि प्रदान की। पन्त के 'पल्लव' को छायावादी आलोचना के नए प्रतिमानों का पहला घोषणापत्र कहा जाता है। इन कवि आलोचकों ने छायावादी साहित्य की काव्यभाषा, यथार्थ निरूपण, अर्थ मीमांसा, छंद मुक्ति, शिल्प-बोध आदि के एक नए साहित्य शास्त्र द्वारा काव्य बोध कराने का मार्ग प्रशस्त किया। पन्त का काव्य भाषा विश्लेषण निराला का छंद संबंधी विचार और महादेवी के गीत-विधा विवेचन का हिंदी आलोचना में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही नहीं, निराला ने हिंदी आलोचना में पहली बार कविता के आवयविक सिद्धांत की व्याख्या की और प्रसाद ने हिंदी आलोचना को दार्शनिक धरातल प्रदान किया।

हिंदी अलोचना को जो प्रौढ़ता और सुव्यवस्था आचार्य शुक्ल ने प्रदान किया था, उसे आगे ले जाने का चुनौतीपूर्ण कार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नगेन्द्र की महान त्रयी ने किया। ये तीनों अलग-अलग विषयों पर शुक्ल जी से टकराये भी। नन्द दुलारे वाजपेयी का शुक्ल जी से मतभेद केवल छायावादी काव्य को लेकर था और उनका हिन्दी आलोचना में सबसे महान योगदान छायावाद को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना है और उन्होंने सिद्ध किया छायावाद की मूल प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। वाजपेयी जी काव्य-सौष्ठव को सर्वोपरि महत्त्व दिया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का शुक्ल जी मतभेद इतिहास-बोध को लेकर था। उन्होंने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' में हिंदी साहित्य को एक समवेत, भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के रूप में समझने का प्रयास और प्रस्ताव किया। काव्य-रूढियों और कवि-प्रसिद्धियों के माध्यम से काव्य के अध्ययन का प्रस्ताव भी हिंदी आलोचना को एक महत्त्वपूर्ण देन है। इस आधार पर ही द्विवेदी जी पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार किया। साहित्य और जन जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण पूरी तरह से मानवतावादी था, जो शुक्ल जी के लोकमंगलवाद से काफी दूर तक मेल खाता है।

डॉ. नगेन्द्र ने फ्रायडीय प्रभाव के तहत मनोविश्लेषणात्मक व्याख्याएँ की और शास्त्र विवेचन करते हुए भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सामानांतर सिद्धांतों की तुलना कर दोनों के बीच समान तत्वों की खोज की।

शुक्लोतर आलोचकों में डॉ. देवराज का स्वर कुछ अलग था। उन्होंने शुक्ल जी के सूत्रों और कुछ नयी प्रवृतियों के आधार पर छायावाद की दुर्बलताओं की सोदाहरण व्याख्या करते हुए छायावाद के पतन की घोषणा कर दी और सांस्कृतिक-बोध को साहित्य के प्रतिमान के रूप में स्थापित किया।

शुक्लोतर आलोचना में अज्ञेय का भी अहम् योगदान है। उनकी भूमिकाओं (कवि-दृष्टि), निबंध ('त्रिशंकु', 'आत्मनेपद', 'अद्यतन') और समग्र विवेचन ('संवत्सर') में साहित्य ही नहीं, रचनात्मकता और सम्प्रेषण मात्रा की विविध समस्याओं का गहरा और सुलझा हुआ विश्लेषण हुआ है।

हिंदी उपन्यास

हिंदी उपन्यास का आरम्भ श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' (1843 ई.) से माना जाता है। हिंदी के आरम्भिक उपन्यास अधिकतर ऐयारी और तिलस्मी किस्म के थे। अनूदित उपन्यासों में पहला सामाजिक उपन्यास भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'पूर्णप्रकाश' और चंद्रप्रभा नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद था। आरम्भ में हिंदी में कई उपन्यास बँगला, मराठी आदि से अनुवादित किए गए।

हिंदी में सामाजिक उपन्यासों का आधुनिक अर्थ में सूत्रपात प्रेमचंद (1880-1936) से हुआ। प्रेमचंद पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिंदी की ओर मुड़े। आपके 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'निर्मला', 'गोदान', आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं, जिनमें ग्रामीण वातावरण का उत्तम चित्रण है। चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद गांधी जी के 'हृदयपरिवर्तन' के सिद्धांत को मानते थे। बाद में उनकी रुझान समाजवाद की ओर भी हुई, ऐसा जान पड़ता है। कुल मिलाकर उनके उपन्यास हिंदी में आधुनिक सामाजिक सुधारवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में भिन्न प्रकार के समाजों का चित्रण है, परंतु शैली अधिक काव्यात्मक है। प्रेमचंद की ही शैली में, उनके अनुकरण से विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि अनेक लेखकों ने सामाजिक उपन्यास लिखे, जिनमें एक प्रकार का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अधिक था। परंतु पांडेय

बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि ने फरांसीसी ढंग का यथार्थवाद और प्रकृतवाद (नैचुरॉलिज्म) अपनाया और समाज की बुराइयों का दंभस्फोट किया। इस शेली के उपन्यासकारों में सबसे सफल रहे 'चित्रलेखा' के लेखक भगवतीचरण वर्मा, जिनके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'भूले बिसरे चित्र' बहुत प्रसिद्ध हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारें' का भी इस समाज की बुराइयों के चित्रणवाली रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमृतलाल नागर की 'बूँद और समुद्र' इसी यथार्थवादी शैली में आगे बढ़कर आंचलिकता मिलानेवाला एक श्रेष्ठ उपन्यास है। सियारामशरण गुप्त की नारी' की अपनी अलग विशेषता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास जैनेंद्रकुमार से शुरू हुए। 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' आदि से भी अधिक आप के 'त्यागपत्र' ने हिंदी में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैनेंद्र जी दार्शनिक शब्दावली में अधिक उलझ गए। मनोविश्लेषण में स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने 'शेखर: एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी' में उत्तरोत्तर गहराई और सूक्ष्मता उपन्यासकला में दिखाई। इस शैली में लिखने वाली बहुत कम मिलते हैं। सामाजिक विकृतियों पर इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी', 'प्रेत और छाया', 'जहाज का पंछी' आदि में अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस शैली के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और नरेश मेहता का 'वह पथबंधु था' उत्तम उपलब्धियाँ हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक बहुत मनोरंजक कथाप्रयोग है, जिसमें प्राचीन काल के भारत को मूर्त किया गया है। बृंदावनलाल वर्मा के 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी' आदि में ऐतिहासिकता तो बहुत है, रोचकता भी है, परंतु काव्यमयता द्विवेदी जी जैसी नहीं है। राहुल सांकृत्यायन (1895-1963), रांगेय राघव (1922-1963) आदि ने भी कुछ संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास दिए हैं।

यथार्थवादी शैली सामाजिक यथार्थवाद की ओर मुड़ी और 'दिव्या' और 'झूठा सच' के लेखक भूतपूर्व क्रांतिकारी यशपाल और 'बलचनमा' के लेखक नागार्जुन इस धारा के उत्तम प्रतिनिधि हैं। कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में प्रचार का आग्रह बढ़ गया है। हिंदी की नवीनतम विधा आंचलिक उपन्यासों की है, जो शुरु होती है फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' से और उसमें अब कई लेखक हाथ आजमा रहे हैं, जैसे राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, शैलेश मटियानी, राजेंद्र अवस्थी, मनहर चौहान, शिवानी इत्यादि।

हिंदी के प्रारंभिक उपन्यास

हिंदी के मौलिक कथासाहित्य का आरम्भ ईशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से होता है। भारतीय वातावरण में निर्मित इस कथा में लौकिक परंपरा के स्पष्ट तत्व दिखाई देते हैं। खाँ साहब के पश्चात् पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' नामक उपन्यासों का निर्माण किया। इन उपन्यासों का विषय समाज सुधार है।

भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने राजनीतिज्ञ या समाज सुधारक के रूप में लिखा। बाबू देवकीनंदन सर्वप्रथम ऐसे उपन्यास लेखक थे, जिन्होंने विशुद्ध उपन्यास लेखक के रूप में लिखा। उन्होंने कहानी कहने के लिए ही कहानी कही। वह अपने युग के घात प्रतिघात से प्रभावित थे। हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में खत्री जी ने जो परंपरा स्थापित की वह एकदम नई थी। प्रेमचंद ने भारतेंदु द्वारा स्थापित परंपरा में एक नई कड़ी जोड़ी। इसके विपरीत बाबू देवकीनंदन खत्री ने एक नई परंपरा स्थापित की। घटनाओं के आधार पर उन्होंने कहानियों की एक ऐसी शृंखला जोड़ी जो कहीं टूटती नजर नहीं आती। खत्री जी की कहानी कहने की क्षमता को हम ईशांकृत 'रानी केतकी की कहानी' के साथ सरलतापूर्वक संबद्ध कर सकते हैं।

वास्तव में कथा साहित्य के इतिहास में खत्री जी की 'चंद्रकांता' का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास है। खत्री जी के उपन्यास साहित्य में भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। मर्यादा आपके उपन्यासों का प्राण है।

उपन्यास साहित्य की विकासयात्रा में पं. किशोरीलाल गोस्वामी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। यह उपन्यासों की दिशा में घर करके बैठ गए। आधुनिक जीवन की विषमताओं के चित्र आपके जासूसी उपन्यासों में पाए जाते हैं। गोस्वामी जी के उपन्यास साहित्य में वासना का झीना परदा प्रायः सभी कहीं पड़ा हुआ है।

जासूसी उपन्यास लेखकों में बाबू गोपालराम गहमरी का नाम महत्त्वपूर्ण है। गहमरी जी ने अपने उपन्यासों का निर्माण स्वयं अनुभव की हुई घटनाओं के आधार पर किया है, इसलिए कथावस्तु पर प्रामाणिकता की छाप है। कथावस्तु हत्या या लाश के पाए जाने के विषयों से संबंधित है। जनजीवन से संपर्क होने के कारण उपन्यासों की भाषा में ग्रामीण प्रयोग प्रायः मिलते हैं।

हिंदी के आरम्भिक उपन्यास लेखकों में बाबू हरिकृष्ण जौहर का तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यास लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिलस्मी उपन्यासों की दिशा में जौहर ने बाबू देवकीनंदन खत्री द्वारा स्थापित उपन्यास परंपरा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक जीवन की विषमाओं एवं सभ्य समाज के यथार्थ जीवन का प्रदर्शन करने के लिए ही बाबू हरिकृष्ण जौहर ने जासूरी उपन्यासों का निर्माण किया है। 'काला बाघ' और 'गवाह गायब' आपके इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं।।

हिंदी के आरम्भिक उपन्यासों का निर्माण लोक साहित्य की आधारशिला पर हुआ। कौतूहल और जिज्ञासा के भाव ने इसे विकसित किया। आधुनिक जीवन की विषमताओं ने जासूसी उपन्यासों की कथा को जीवन के यथार्थ में प्रवेश कराया। असत्य पर सत्य की सदैव ही विजय होती है यह सिद्धांत भारतीय संस्कृति का केंद्रबिंदु है। हिंदी के आरम्भिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति मूल रूप से पाई जाती है।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज गद्य-लेखन की एक विधा है। रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। रिपोर्ट अंग्रेजी भाषा का शब्द है। रिपोर्ट किसी घटना के यथातथ्य वर्णन को कहते हैं। रिपोर्ट सामान्य रूप से समाचारपत्र के लिये लिखी जाती है और उसमें साहित्यिकता नहीं होती है। रिपोर्ट के कलात्मक तथा साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहते हैं। वास्तव में रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से लिखे जाने में ही रिपोर्ताज की सार्थकता है। आँखों देखी और कानों सुनी घटनाओं पर भी रिपोर्ताज लिखा जा सकता है। कल्पना के आधार पर रिपोर्ताज नहीं लिखा जा सकता है। घटना प्रधान होने के साथ ही रिपोर्ताज को कथातत्त्व से भी युक्त होना चाहिये। रिपोर्ताज लेखक को पत्रकार तथा कलाकार दोनों की भूमिका निभानी पडती है। रिपोर्ताज लेखक के लिये यह भी आवश्यक है कि वह जनसाधारण के जीवन की सच्ची और सही जानकारी रखे। तभी रिपोर्ताज लेखक प्रभावोत्पादक ढंग से जनजीवन का इतिहास लिख सकता है।

अर्थ एवं उद्देश्य

जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उद्‌भव

फ्राँसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुत: यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

घटना प्रधान

आँखों-देखी और कानों-सुनी घटनाओं पर रिपोर्ताज लिखा जा सकता है, कल्पना के आधार पर नहीं। लेकिन तथ्यों के वर्णन मात्रा से रिपोर्ताज नहीं बना करता, रिपोर्ट भले ही बन सके। घटना-प्रधान होने के साथ ही रिपोर्ताज को कथातत्त्व से भी युक्त होना चाहिए। रिपोर्ताज लेखक को पत्रकार तथा कलाकार की दोहरी जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। साथ ही उसके लिए आवश्यक होता है कि वह जनसाधारण के जीवन की सच्ची और सही जानकारी रखे और उत्सवों, मेलों, बाढ़ों, अकालों, युद्धों और महामारियों जैसे सुख-दु:ख के क्षणों में जनता को निकट से देखे। तभी वह अखबारी रिपोर्टर और साहित्यिक रचनाकार की हैसियत से जन-जीवन का प्रभावोत्पादक ब्योरा लिख सकेगा।

रांगेय राघव का योगदान

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक थे। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

रिपोर्ताज की हिन्दी शैली

द्वितीय महायुद्ध में रिपोर्ताज साहित्यिक गद्य रूप पाश्चात्य साहित्य और विशेषत: रूसी साहित्य में बहुत लोकप्रिय और विकसित हुआ। एलिया एरनबर्ग को रिपोर्ताज लेखक के रूप में बड़ी ख्याति मिली। हिन्दी में रिपोर्ताज साहित्य मूलत: विदेशी साहित्य के प्रभाव से आया, पर हिन्दी में रिपोर्ताज की शैली मँज

नहीं सकी है। बंगाल के अकाल और जन–आन्दोलन आदि विषयों को लेकर कुछ रिपोर्ताज लिखे अवश्य गये, पर हिन्दी में रिपोर्ताज को एक सुनिश्चित साहित्य रूप की प्रतिष्ठा अभी नहीं मिल सकी है। सर्वश्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, रेणु आदि ने हिन्दी में रिपोर्ताज लिखे हैं।

हिन्दी रिपोर्ताज का इतिहास

'रिपोर्ताज' का अर्थ एवं उद्देश्य–जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उद्‌भव फ्रांसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को हम गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुतः यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

आरंभिक युग

हिंदी खड़ी बोली गद्य के आरंभ के साथ ही अनेक नई विधाओं का चलन हुआ। इन विधाओं में कुछ तो सायास थी और कुछ के गुण अनायास ही कुछ गद्यकारों के लेखन में आ गए थे। वास्तविक रूप में तो रिपोर्ताज का जन्म हिंदी में बहुत बाद में हुआ, लेकिन भारतेंदुयुगीन साहित्य में इसकी कुछ विशेषताओं को देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारतेंदु ने स्वयं जनवरी, 1877 की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में दिल्ली दरबार का वर्णन किया है, जिसमें रिपोर्ताज की झलक देखी जा सकती है। रिपोर्ताज लेखन का प्रथम सायास प्रयास शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'लक्ष्मीपुरा' को मान जा सकता है। यह सन् 1938 में 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके कुछ समय बाद ही 'हंस' पत्रिका में उनका दूसरा रिपोर्ताज 'मौत के खिलाफ जिन्दगी की लड़ाई' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य में यह प्रगतिशील साहित्य के आरंभ का काल भी था। कई प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्ध किया। शिवदान सिंह चौहान के अतिरिक्त अमृतराय और प्रकाशचंद गुप्त ने बड़े जीवंत रिपोर्ताजों की रचना की।

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन् 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में

वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक हैं। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

स्वातंत्रयोत्तर युग

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के रिपोर्ताज लेखन का हिंदी में चलन बढ़ा। इस समय के लेखकों ने अभिव्यक्ति की विविध शैलियों को आधार बनाकर नए प्रयोग करने आरंभ कर दिए थे। रामनारायण उपाध्याय कृत 'अमीर और गरीब' रिपोर्ताज संग्रह में व्यंग्यात्मक शैली को आधार बनाकर समाज के शाश्वत विभाजन को चित्रित किया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्ताजों ने इस विधा को नई ताजगी दी। 'ऋण जल धन जल' रिपोर्ताज संग्रह में बिहार के अकाल को अभिव्यक्ति मिली है और 'नेपाली क्रांतिकथा' में नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन को कथ्य बनाया गया है।

अन्य महत्त्वपूर्ण रिपोर्ताजों में भंदत आनंद कौसल्यायन कृत 'देश की मिट्टी बुलाती है', धर्मवीर भारती कृत 'युद्धयात्रा' और शमशेर बहादुर सिंह कृत 'प्लाट का मोर्चा' का नाम लिया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने समय की समस्याओं से जूझती जनता को हमारे लेखकों ने अपने रिपोर्ताजों में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लेकिन हिंदी रिपोर्ताज के बारे में यह भी सच है कि इस विधा को वह ऊँचाई नहीं मिल सकी जो कि इसे मिलनी चाहिए थी।

नाटक

नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं– श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। पर दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य मात्र को नाटक कहने लगे हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद है– काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं– 'नाटक,

प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाटयरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण।' साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि दृश्य काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं– रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं– रूपक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, ड़िम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन। 'उपरूपक' के अठारह भेद हैं– नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटयरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भणिका।

उपर्युक्त भेदों के अनुसार नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्र के अर्थ में बोलते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं)' की लेकर लिखाना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दु:ख, तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रस शृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि जिस रुपक में में प्रथान हो वह नाटक नहीं कहला सकता। संधिस्थल में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है।

नाटक के प्रमुख तत्व

कथावस्तु

कथावस्तु को 'नाटक' ही कहा जाता है अंग्रेजी में इसे 'प्लॉट' की संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ आधार या भूमि है। कथा तो सभी प्रबंध का प्रबंधात्मक रचनाओं की रीढ़ होती है और नाटक भी क्योंकि प्रबंधात्मक रचना है इसलिए कथानक इसका अनिवार्य है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में तीन प्रकार की कथाओं का निर्धारण किया है-1 प्रख्यात 2 उत्पाद्य 3 मिस्र प्रख्यात कथा।

प्रख्यात कथा–

प्रख्यात कथा इतिहास, पुराण से प्राप्त होती है। जब उत्पाद्य कथा कल्पना पराश्रित होती है, मिश्र कथा कहलाती है। इतिहास और कथा दोनों का योग रहता है। इन कथा आधारों के बाद नाटक कथा को मुख्य तथा गौण अथवा प्रासंगिक भेदों में बाँटा जाता है, इनमें से प्रासंगिक के भी आगे पताका और प्रकरी है। पताका प्रासंगिक कथावस्तु मुख्य कथा के साथ अंत तक चलती है, जब प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त नाटक की कथा के विकास हेतु कार्य व्यापार की पाँच अवस्थाएँ प्रारंभ प्रयत्न, परपर्याशा नियताप्ति और कलागम होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में पाँच संधियों का प्रयोग भी किया जाता है। वास्तव में नाटक को अपनी कथावस्तु की योजना में पात्रों और घटनाओं में इस रुप में संगति बैठानी होती है कि पात्र कार्य व्यापार को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त कर सके। नाटककार को ऐसे प्रसंग कथा में नहीं रखनी चाहिए जो मंच के संयोग ना हो यदि कुछ प्रसंग बहुत आवश्यक है तो नाटककार को उसकी सूचना कथा में दे देनी चाहिए। नाटक की कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या सामाजिक हो सकती है।

पात्र

नाटक में नाटक का अपने विचारों, भावों आदि का प्रतिपादन पात्रों के माध्यम से ही करना होता है। अतः नाटक में पात्रों का विशेष स्थान होता है। प्रमुख पात्र अथवा नायक कला का अधिकारी होता है तथा समाज को उचित दशा तक ले जाने वाला होता है। भारतीय परंपरा के अनुसार वह विनयी, सुंदर, शालीनवान, त्यागी, उच्च कुलीन होना चाहिए, किंतु आज नाटकों में किसान, मजदूर आदि कोई भी पात्र हो सकता है। पात्रों के संदर्भ में नाटककार को केवल उन्हीं पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए, जो घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा नाटक के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं।

पात्रों का सजीव और प्रभावशाली चरित्र ही नाटक की जान होता है। कथावस्तु के अनुरूप नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शांत या धीरोद्धत हो सकता है।

उद्देश्य

सामाजिक के हृदय में रक्त का संचार करना ही नाटक का उद्देश्य होता है। नाटक के अन्य तत्व इस उद्देश्य के साधन मात्र होते हैं। भारतीय दृष्टिकोण

सदा आशावादी रहा है, इसलिए संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखांत रहे हैं। पश्चिम नाटककारों ने या साहित्यकारों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हुए उसके प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है उसके प्रभाव से हमारे यहाँ भी कई नाटक दुखांत में लिखे गए हैं, किंतु सत्य है कि उदास पात्रों के दुखांत अंत से मन खिन्न हो जाता है। अतः दुखांत नाटको का प्रचार कम होना चाहिए।

भाषा शैली

नाटक सर्वसाधारण की वस्तु है अतः उसकी भाषा शैली सरल, स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए, जिससे नाटक में प्रभाविकता का समावेश हो सके तथा दर्शक को क्लिष्ट भाषा के कारण बौद्धिक श्रम ना करना पड़े अन्यथा रस की अनुभूति में बाधा पहुंचेगी। अतः नाटक की भाषा सरल व स्पष्ट रूप में प्रवाहित होनी चाहिए।

देशकाल वातावरण

देशकाल वातावरण के चित्रण में नाटककार को युग अनुरूप के प्रति विशेष सतर्क रहना आवश्यक होता है। पश्चिमी नाटक में देशकाल के अंतर्गत संकलनअत्र समय स्थान और कार्य की कुशलता का वर्णन किया जाता है। वस्तुतः यह तीनों तत्व 'यूनानी रंगमंच 'के अनुकूल थे। जहाँ रात भर चलने वाले लंबे नाटक होते थे और दृश्य परिवर्तन की योजना नहीं होती थी। परंतु आज रंगमंच के विकास के कारण संकलन का महत्त्व समाप्त हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख ना होते हुए भी नाटक में स्वाभाविकता, औचित्य तथा सजीवता की प्रतिष्ठा के लिए देशकाल वातावरण का उचित ध्यान रखा जाता है। इसके अंतर्गत पात्रों की वेशभूषा तत्कालिक धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों में युग का विशेष स्थान है। अतः नाटक के तत्वों में देशकाल वातावरण का अपना महत्त्व है।

संवाद

नाटक में नाटकार के पास अपनी और से कहने का अवकाश नहीं रहता। वह संवादों द्वारा ही वस्तु का उद्घाटन तथा पात्रों के चरित्र का विकास करता है। अतः इसके संवाद सरल, सुबोध, स्वभाविक तथा पात्र अनुकूल होने चाहिए। गंभीर दार्शनिक विषयों से इसकी अनुभूति में बाधा होती है। इसलिए इनका प्रयोग

नहीं करना चाहिए। नीर सत्ता के निरावरण तथा पात्रों की मनोभावों की मनोकामना के लिए कभी-कभी स्वागत कथन तथा गीतों की योजना भी आवश्यक समझी गई है।

रस

नाटक में नवरसों में से आठ का ही परिपाक होता है। शांत रस नाटक के लिए निषिद्ध माना गया है। वीर या श्रृंगार में से कोई एक नाटक का प्रधान रस होता है।

अभिनय

यह नाटक की प्रमुख विशेषता है। नाटक को नाटक के तत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। यही नाट्यतत्व का वह गुण है, जो दर्शक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस संबंध में नाटककार को नाटकों के रूप, आकार, दृश्यों की सजावट और उसके उचित संतुलन, परिधान, व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों की ओर विशेष रुप से होनी चाहिए इसी में नाटक की सफलता निहित है।

अभिनय भी नाटक का प्रमुख तत्व है। इसकी श्रेष्ठता पात्रों के वाक्चातुर्य और अभिनय कला पर निर्भर है। मुख्य प्रकार से अभिनय 4 प्रकार का होता हॅ।

1. आंगिक अभिनय (शरीर से किया जाने वाला अभिनय),
2. वाचिक अभिनय (संवाद का अभिनय रेडियो नाटक,)
3. आहार्य अभिनय (वेशभूषा, मेकअप, स्टेज विन्यास, प्रकाश व्यवस्था आदि),
4. सात्विक अभिनय (अंतरात्मा से किया गया अभिनय रस आदि।

नाटक का इतिहास

प्राचीन काल भारत में अभिनय-कला और रंगमंच का वैदिक काल में ही निर्माण हो चुका था। तत्पश्चात् संस्कृत रंगमंच तो अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है। बहुत प्राचीन समय में भारत में संस्कृत नाटक धार्मिक अवसरों, सांस्कृतिक पर्वों, सामाजिक समारोहों

एवं राजकीय बोलचाल की भाषा नहीं रही तो संस्कृत नाटकों की मंचीकरण समाप्त-सा हो गया।

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से हैं। भरत मुनि का नाटयशास्त्र बहुत पुराना है। रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में नट और नाटक का उल्लेख है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं। शिलाली का नाम शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और सामवेदीय अनुपद सूत्र में मिलता हैं। विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को 4000 वर्ष से ऊपर का बतलाया है। अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह राय हक ग्रीस या यूनान में ही सबसे पहले नाटक का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। हरिवंश में लिखा है कि जब प्रद्युम्न, सांब आदि यादव राजकुमार वज्रनाभ के पुर में गए थे तब वहाँ उन्होंने रामजन्म और रंभाभिसार नाटक खेले थे। पहले उन्होंने नेपथ्य बाँधा था, जिसके भीतर से स्त्रियों ने मधुर स्वर से गान किया था। शूर नामक यादव रावण बना था, मनोवती नाम की स्त्री रंभा बनी थी, प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक बने थे। विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया हैं कि हिंदुओं ने अपने यहाँ नाटक का प्रादुर्भाव अपने आप किया था। प्राचीन हिंदू राजा बडी बडी रंगशालाएँ बनवाते थे। मध्यप्रदेश में सरगुजा एक पहाड़ी स्थान है, वहाँ एक गुफा के भीतर इस प्रकार की एक रंगशाला के चिह्न पाए गए हैं। यह ठीक है कि यूनानियों के आने के पूर्व के संस्कृत नाटक आजकल नहीं मिलते हैं, पर इस बात से इनका अभाव, इतने प्रमाणों के रहते, नहीं माना जा सकता। संभव है, कला संपन्न यूनानी जाति से जब हिंदू जाति का मिलन हुआ हो तब जिस प्रकार कुछ और और बातें एक ने दूसरे की ग्रहण की। इसी प्रकार नाटक के संबंध में कुछ बातें हिंदुओं ने भी अपने यहाँ ली हों। बाह्यपटी का 'जवनिका' (कभी-कभी 'यवनिका') नाम देख कुछ लोग यवन संसर्ग सूचित करते हैं। अंकों में जो 'दृश्य' संस्कृत नाटकों में आए हैं उनसे अनुमान होता है कि इन पटों पर चित्र बने रहते थे। अस्तु अधिक से अधिक इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में, जो अभिनय हुआ करते थे। उनमें चित्रपट काम में नहीं लाए जाते थे। सिकंदर के आने के पीछे उनका प्रचार हुआ। अब भी रामलीला, रासलीला बिना परदों के होती ही हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं में लोकतंत्र का उदय हुआ। यह विचित्र संयोग है कि मुस्लिमकाल में जहाँ शासकों की धर्मकट्टरता ने भारत की

साहित्यिक रंग-परम्परा को तोड़ डाला वहाँ लोक भाषाओं में लोकमंच का अच्छा प्रसार हुआ। रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि के रूप में लोकधर्मी नाट्यमंच बना रहा। भक्तिकाल में एक ओर तो ब्रज प्रदेश में कृष्ण की रासलीलाओं का ब्रजभाषा में अत्यधिक प्रचलन हुआ और दूसरी और विजयदशमी के अवसर पर समूचे भारत के छोटे-बड़े नगरों में रामलीला बड़ी धूमधाम से मनाई जाने लगी।

साहित्यिक दृष्टि से इस मध्यकाल में कुछ संस्कृत नाटकों के पद्यबद्ध हिन्दी छायानुवाद भी हुए, जैसे नेवाज कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल', सोमनाथ कृत 'मालती-माधव', हृदयरामचरित 'हनुमन्नाटक' आदिय कुछ मौलिक पद्यबद्ध संवादात्मक रचनाएँ भी हुई, जैसे लछिराम कृत 'करुणाभरण', रघुराम नागर कृत 'सभासार' (नाटक), गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्नविजय' आदिय पर इनमें नाटकीय पद्धति का पूर्णतया निर्वाह नहीं हुआ। ये केवल संवादात्मक रचनाएँ ही कही जा सकती है।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि तथा साहित्यिक रचनाओं के अभाव के कारण मध्यकाल में साहित्यिक रंगकर्म की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। सच तो यह है कि आधुनिक काल में व्यावसायिक तथा साहित्यिक रंगमंच के उदय से पूर्व हमारे देश में रामलीला, नौटंकी आदि के लोकमंच ने ही चार-पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी रंगमंच को जीवित रखा। यह लोकमंच-परम्परा आज तक विभिन्न रूपों में समूचे देश में वर्तमान है। उत्तर भारत में रामलीलाओं के अतिरिक्त महाभारत पर आधारित 'वीर अभिमन्यु', 'सत्य हरिशचन्द्र' आदि ड्रामे तथा 'रूप-बसंत', 'हीर-राँझा', 'हकीकतराय', 'बिल्वामंगल' आदि नौटंकियाँ आज तक प्रचलित हैं।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। फलतः समूचे भारत में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ स्थापित हुई। नाट्यारंगन की प्रवृत्ति सर्वप्रथम बँगला में दिखाई दी। सन् 1835 ई. के आस-पास कलकत्ता में कई अव्यावसायिक रंगशालाओं का निर्माण हुआ। कलकत्ता के कुछ सम्भ्रान्त परिवारों और रईसों ने इनके निर्माण में योग दिया था और दूसरी ओर व्यावयायिक नाटक मंडलियों के असाहित्यिक प्रयास से अलग था।

बँगला के इस नाट्य-सृजन और नाट्यारंगन का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रंगांदोलन को इसी से दशा, दिशा और प्रेरणा मिली थी। बँगला के इस आरम्भिक साहित्यिक प्रयास में जो नाटक रचे गए वे मूल संस्कृत या अंग्रेजी नाटकों के छायानुवाद या रूपान्तर थे। स्पष्ट है कि भारतेन्दु का आरम्भिक प्रयास भी संस्कृत नाटकों के छायानुवाद का ही था।

हिन्दी रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों में सबसे पहला हिन्दी गीतिनाट्य अमानत कृत 'इंदर सभा' कहा जा सकता है, जो सन् 1853 ई. में लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खेला गया था। इसमें उर्दू-शैली का वैसा ही प्रयोग था जैसा पारसी नाटक मंडलियों ने अपने नाटकों में अपनाया। सन् 1862 ई. में काशी में 'जानकी मंगल' नामक विशुद्ध हिन्दी नाटक खेला गया था।

उपर्युक्त साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त छुटपुट प्रयास से बहुत आगे बढ़कर पारसी मंडलियों-ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, एल्फिंस्टन थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल तथा न्यू अलफ्रेड कम्पनी आदि-ने व्यावसायिक रंगमंच बनाया। सर्वप्रथम बंबई और बाद में हैदराबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली लाहौर आदि कई केन्द्रों और स्थानों से ये कम्पनियाँ देश-भर में घूम-घूमकर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन करने लगी। इन पारसी नाटक मंडलियों के लिए पहले-पहल नसरबानी खान साहब, रौनक बनारसी, विनायक प्रसाद 'तालिब', 'अहसन' आदि लेखकों ने नाटक लिखे। जनता का सस्ता मनोरंजन और धनोपार्जन ही इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य था।

इसी से उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों से इनका विशेष प्रयोजन नहीं था। धार्मिक-पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान नाटकों को ही ये अपने रंगमंच पर दिखाती थी। सस्ते और अश्लील प्रदर्शन करने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं था। इसी से जनता की रुचि भ्रष्ट करने का दोष इन पर लगाया जाता है। भ्रमण के कारण इन कम्पनियों का रंगमंच भी इनके साथ घूमता रहता था।

किसी स्थायी रंगमंच की स्थापना इनके द्वारा भी संभव नहीं थी। रंगमंच का ढाँचा बल्लियों द्वारा निर्मित किया जाता था और स्टेज पर चित्र-विचित्र पर्दे लटका दिए जाते थे। भड़कीली-चटकीली वेशभूषा, पर्दों की नई-नई चित्रकारी तथा चमत्कारपूर्ण दृश्य-विधान की ओर इनका अधिक ध्यान रहता था। पर्दों को दृश्यों के अनुसार उठाया-गिराया जाता था। संगीत-वाद्य का आयोजन स्टेज के अगले भाग में होता था। गंभीर दृश्यों के बीच-बीच में भी भद्दे हास्यपूर्ण दृश्य

जानबूझकर रखे जाते थे। बीच-बीच में शायरी, गजलें और तुकबन्दी खूब चलती थी। भाषा उर्दू-हिन्दी का मिश्रित रूप थी। संवाद पद्य-रूप तथा तुकपूर्ण खूब होते थे।

राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, आगाहश्र कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर आदि कुछ ऐसे नाटककार भी हुए हैं, जिन्होंने पारसी रंगमंच को कुछ साहित्यिक पुट देकर सुधारने का प्रयत्न किया है और हिन्दी को इस व्यावसायिक रंगमंच पर लाने की चेष्टा की। पर व्यावसायिक वृत्ति के कारण संभवत: इस रंगमंच पर सुधार संभव नहीं था। इसी से इन नाटककारों को भी व्यावसायिक बन जाना पड़ा। इस प्रकार पारसी रंगमंच न विकसित हो सका, न स्थायी ही बन सका।

आत्मकथा

उपन्यास, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोतार्ज, यात्रा वृत्तान्त और डायरी की ही भाँति आत्मकथा नामक साहित्यिक विधा का भी आगमन पश्चिम से हुआ है। डॉ. नामवर सिंह ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि 'अपना लेने पर कोई चीज पराई नहीं रह जाती, बल्कि अपनी हो जाती है।' इसलिए बहस अपनाव को लेकर नहीं, उसकी चेतना और प्रक्रिया को लेकर हो सकती है। आधुनिक काल में पाश्चात्य संस्कृति से संवाद स्थापित होने पर हिन्दी के रचनाकारों ने इन विधाओं को अपनाया और अपने जातीय संदर्भ से जोड़कर उन्हें विकसित किया। महात्मा गांधी कहते थे कि अपने चिन्तन के दरवाजे और खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिए, ताकि विश्व की विभिन्न संस्कृतियों की हवाएँ उसमें बे-रोक-टोक आएँ-जाएँ, मगर यह ध्यान रहे कि उसी समय अपनी सांस्कृतिक परम्परा में हमारी जड़ें बहुत गहरी और मजबूत हो।

यह कहना पर्याप्त नहीं है कि आत्मकथा की विधा परिचम से भारत में आई। भारत में वह कब और किस सामाजिक-राजनैतिक जागरण की बदौलत आयी, हमारी अपनी सांस्कृतिक परम्परा में उसका विधान किन कारणों से नहीं रहा और अगर उसके आधुनिक रूप से भिन्न कुछ आत्मकथा-सरीखी साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ रहीं भी, तो वे कैसी हैं तथा कितनी महत्त्वपूर्ण हैं? आत्मकथा का सम्यक् आधुनिक रूप कब अपनाया गया तथा इस विधा की महत्त्वपूर्ण कृतियों के जरिए उसका अब तक कितना विकास हुआ है? वर्तमान स्थिति क्या है और उसमें आत्मकथा की क्या भूमिका होनी चाहिए? किस लिहाज से वह एक बेहद

प्रासंगिक और मूल्यवान विधा है? इन सभी सवालों पर बात करके ही आत्मकथा की विकास-यात्रा की बहस को कोई सम्पूर्णता प्रदान की जा सकती है।

प्राचीन साहित्य में आत्मकथा की परम्परा भले ही नहीं रही हो, लेकिन ऐसा नहीं है कि कथाकारों ने आत्म वचन को नहीं अपनाया हो। एक सूक्ष्म जाँच-पड़ताल के बाद आत्मकथा-सरीखी साहित्यिक अभिव्यक्ति के कुछ टुकड़े जरूर मिलते हैं, हालांकि उनसे कोई संतुष्टि नहीं मिल पाती है। हर्षचरित का वह आरम्भिक हिस्सा है, जिसमें रचयिता बाणभट्ट ने अपमान, वंचना और हताशा में भरे अपने बचपन, विद्यार्थी जीवन और शुरूआती युवावस्था की चर्चा की है। इसी तरह कुछ और नाम भी आते हैं, जिनमें बिलहण (विक्रमांकदेव चरित), दण्डी (दशकुमारचरित) आदि प्रमुख हैं।

प्राप्त सामग्री के आधार पर काल क्रमानुसार इतिहास की दीर्घा में आत्मकथाओं के तीन निश्चित चरण दिखते हैं–

प्रथम चरण (1600-1875)

प्रथम चरण के सुदीर्घ कालखण्ड में तीन महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ मिलती हैं। हिन्दी में सत्राहवीं शताब्दी में रचित बनारसीदास 'जैन' की 'अर्द्धकथानक' (1641ई.) अपनी बेबाकी में चौंकाने वाली आत्मकथा है। बनारसीदास की अर्द्धकथा के बाद एक लम्बा कालखण्ड अभिव्यक्ति की दृष्टि से मौन मिलता है। इस लम्बे मौन को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1860 में अपने 'आत्मचरित' से तोड़ा है। दयानन्द सरस्वती जी का स्वकथित जीवन वृत्तान्त अत्यन्त संक्षेप में भी अपने वर्तमान तक पहुंचने की कथा का निर्वाह निजी विशिष्ट चेतना के साथ करता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी आत्मकथा में अपने प्रारम्भिक जीवन के चित्रण के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों को दर्शाया है। घर से भागने, वैरागी के हाथ पड़ने, पिता के द्वारा पकड़े जाने, पुनः भागने, तदनन्तर संन्यास लेने और विभिन्न गुरुओं से सम्बद्ध कथाएँ 'जीवन चरित्र' में आती हैं। अपने द्वारा किए गए शैवमत के खण्डन, भागवत के खण्डन आदि अनेक शास्त्रर्थ की चर्चा, साथ ही आर्यसमाज की उन्नति के लिए समर्पित उनका स्वयं का व्यक्तित्व इस संक्षिप्त आत्मकथा को धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाता है। ईश्वर की इस प्रार्थना से लेखक अपनी इस आत्मकथा का समापन करता है–"ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि सर्वत्र आर्य समाज कायम होकर पूजादि

दुराचार दूर हो जावें, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सबकी समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति हो जावे।"

सन् 1909 तथा 1918 ई. में दो खण्डों में सत्यानन्द अग्निहोत्री का आत्मचरित्र 'मुझमें देव-जीवन का विकास' प्रकाशित हुआ। इसमें आत्मकथा कम और उपदेशात्मकता अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने आर्यसमाज के प्रचार की प्रतिस्पर्द्धा में देव-समाज के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने हेतु इस ग्रन्थ को रचा था। आस्तिकता और वैदिक विचारधारा का खण्डन इस आत्मकथा का प्रमुख हिस्सा है।

सीताराम सूबेदार द्वारा रचित 'सिपाही से सूबेदार तक' जैसी आत्मकथा अपने अंग्रेजी अनुवादों के अनेक संस्करणों में उपलब्ध है। आत्मकथाकार की सैनिक बनने की अपनी महत्त्वाकांक्षा, मामा के द्वारा दिया गया प्रोत्साहन, घर का विरोध और अन्ततः 'खूब जवान' हो जाने पर फौज के लिए प्रस्थान जैसी घटनाएँ आत्मकथा को रुचिकर बनाती है। आत्म-कथाकार अपनी अड़तालीस वर्षों की ब्रितानी फौज की सेवा में पाये जंग के घाव, चोट के निशानों और छह मेडलों के प्रति गर्वोत्तम है। बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है इस आत्मकथा का अपने मौलिक रूप हिन्दी में नहीं उपलब्ध होना।

द्वितीय चरण (1876-1946)

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के छोटे आत्मकथात्मक लेख 'एक कहानी: कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से प्रारम्भ हुई द्वितीय चरण में आत्मकथाएँ अनेक छोटे-बड़े प्रयोग करती है। इस छोटे-से लेख में भारतेन्दु ने अपने निज एवं अपने परिवेश को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि के साथ उकेरा है। दो पृष्ठों में लिखा गया यह लेख आत्मकथा की विधा के भविष्य के लिए पुष्ट बीज है। अपना परिचय देने के क्रम में आत्मकथाकार ने अपनी सहृदयता का यथेष्ट प्रमाण दिया है–

"जमीन चमन गुल खिलाती है क्या-क्या?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे।"

"हम कौन है और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए जी बहलाने से काम है। अभी इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ, यह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा पवित्र दिन है।"

इस चरण में कई महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई–राधाचरण गोस्वामी की 'राधाचरण गोस्वामी का जीवन चरित्र'-इस छोटी सी कृति में वैयक्तिक संदर्भों से ज्यादा तत्कालीन साहित्य और समाज की चर्चा का निर्वाह किया गया है। भाई परमानन्द की 'आप बीती (मेरी राम कहानी)' का प्रकाशन वर्ष 1922 ई. है।

स्पष्टवादिता, सच्चाई के लिए प्रसिद्ध, वैदिक धर्म के सच्चे भक्त परमानन्द की आपबीती का अपनी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में एक विशेष राजनीतिक महत्त्व है। गिरफ्तारी का पहला दिन, हवालात की अंधेरी कोठरी के अन्दर, न्याय की निराशा जैसे शीर्षकों में आपबीती विभक्त है, जो कहीं न कहीं 'डायरी' के समीप लगती है।

जेल की सजाओं, षड्यन्त्रों, अंधेरे में बिताये अकेले घण्टी और वहाँ की गन्दगी के बारे में बताता लेखक जेल के माध्यम से सुधार करने की आशा को एक कल्पित स्थिति घोषित करता है–"यह वह स्थान है, जहाँ मनुष्य समाज के गिरे हुए आदमी इकट्ठे कर दिये जाते हैं, ताकि वे अपने मन के विचारों को एक-दूसरे से बदलते हुए उनके अनुसार अपना काल व्यतीत करें। जब कोई अच्छी प्रकृति का मनुष्य इनमें डाल दिया जाता है, तो कुछ समय तक तो उसे घृणा-सी आती है, परन्तु कुछ समय वहाँ रहने के पश्चात् वह भी वैसा ही हो जाता है, जैसा कि एक मल उठाने वाले भंगी की सन्तान जिनकी नाक में गन्ध सूँघने की शक्ति मर जाती है।"

20वीं शती के चौथे दशक में ही महात्मा गांधी ने 'आत्म-दर्शन' की अपनी जीवनव्यापी कोशिशों को आत्मकथा का रूप दिया, जिसे उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' की संज्ञा दी। मूल रूप से यह आत्मकथा गुजराती में थी, जो अनुदित होकर बाद में हिन्दी में भी प्रकाशित होती है। आत्मकथा की प्रस्तावना में अपने उद्देश्यों की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा है–

''मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाए हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है और राजनीति के क्षेत्र में मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन है।"

गांधी इस बात से सहमत थे कि आत्मकथा लिखने का पश्चिमी ढंग अनिवार्यत: आत्म-केन्द्रित और अहम्मन्यतापूर्ण है, परन्तु गांधी ने अपने व्यक्ति या 'मैं' के बजाय 'आत्मा' को आत्मकथा के केन्द्र में लाकर इन पाश्चात्य

विकृतियों का प्रतिकार किया। सही मायने में गांधीजी ने आत्मकथा का भारतीयकरण किया है।

कृति के शीर्षक 'सत्य के प्रयोग' से भी यह प्रतीति स्पष्टत: होती है कि लेखक अपने जीवन को प्रयोग-स्थल बनाकर उस पर अनेक परिस्थितियों में बार-बार नये परीक्षण करके उनके परिणाम संसार के सामने रखने की चेष्टा कर रहा है। इसके अलावा उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय जनता उनके जीवन-विश्वास और जीवन व्यवहार का अन्धानुकरण न करे, क्योंकि उनकी बातें 'अन्तिम और सच' नहीं है। सत्य को उन्होंने पाया नहीं है, बल्कि उसे पाने की निरन्तर अथक कोशिश की है। उनकी इस कोशिश से प्रेरित होकर, उनके जीवन-प्रसंगों के अन्तरंग हिस्सेदार बनकर अन्य लोग अपने-अपने ढंग, क्षमता और विवेक के मुताबिक यह कोशिश कर सकते हैं। इस तरह वे ज्यादा से ज्यादा अपने यहाँ एक बड़े पैमाने पर सत्य के प्रयोगों की इस संस्कृति का निर्माण तथा विकास चाहते थे। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इस काम के लिए आत्मकथा से उपयुक्त माध्यम और कुछ हो ही नहीं सकता था।

सन् 1932 में मुंशी प्रेमचंद ने 'हंस' का एक विशेष आत्मकथा-अंक सम्पादित करके, अपने यहाँ आत्मकथा विधा के विकास की एक बड़ी पहल की थी। तब के एक नए समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस अंक में लिखना तो स्वीकार नहीं ही किया, उलटे इस योजना का जबरदस्त सैद्धान्तिक विरोध किया। मसलन वाजपेयी जी आत्मकथा न लिखने को आत्म-त्याग के महान् दर्शन से 'जोड़' रहे थे और जो परम्परा में नहीं है, पर जो परम्परा में नहीं है उन्हें आधुनिक विवेक के साथ अपनाया और समृद्ध भी तो किया जा सकता है। इस प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को याद करना जरूरी है-''फिर यूरोपीय प्रभाव होने मात्रा से कोई चीज अस्पृश्य नहीं हो जाती। प्रेमचंद की कहानियाँ, बैतालपचीसी के ढंग की न होकर आधुनिक यूरोपीय कहानियों के ढंग की हुई हैं, इतना कह देने से प्रेमचन्द का महत्त्व कम नहीं हो जाता। प्रभाव तो मनुष्य पर तब तक पड़ेगा, जब तक उसमें जीवन है। जहाँ जीवन का वेग अधिक है, प्राण धारा बहाव तेज है, उसी स्थान से उसका ऐश्वर्य छितराएगा ही। आलोक सीमा में बंधना नहीं चाहता उसका धर्म ही प्रकाशित होना और प्रकाशित करना है।"

1941 में प्रकाशित आत्मकथा 'मेरी आत्म कहानी' के आत्मकथाकार प्रसिद्ध साहित्यकार श्यामसुन्दर दास हैं। सम्पूर्ण कृति में नागरी प्रचारिणी सभा की

स्थापना, विकास, गति, तत्कालीन हिन्दी और हिन्दी की स्थिति की चर्चाएँ हैं। एक उच्चकोटि के भाषाविद् की आत्मकथा होने के बावजूद भी आत्मकथा में भाषा-शैली का या अभिव्यक्ति का माधुर्य नहीं है। पत्रों के उद्धरण, अंग्रेजी दस्तावेज, आँकड़ों का विस्तृत वर्णन लेखक के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रमाणित तो करते हैं, लेकिन आत्मकथा की सहज निर्बन्ध वैयक्तिक गति को खंडित करते हैं।

सन् 1942 ई. में बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा अत्यन्त ही रोचक एवं व्यंग्य-विनोदपूर्ण है, साथ ही लेखक के व्यक्तित्व, चरित्र, कार्यक्षमता पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाश डालती है।

हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' 1946 ई. में प्रकाशित हुई, जिसमें लेखक ने 1842 से 1945 तक के जीवनानुभवों को लिपिबद्ध किया है। यह कृति अनेक जगहों पर उपदेशात्मक हो गयी है, लेकिन ऐसा सोद्देश्य हुआ है, क्योंकि लेखक ने भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि हो सकता है, ये अनुभव पाठकों के लिए उपयोगी हों।

राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा पाँच खण्डों में 'मेरी जीवन यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इनमें से पहले दो खण्ड उनके जीवनकाल में क्रमशः 1946 तथा 1947 में प्रकाशित हुए तथा शेष तीन खण्डों का प्रकाशन उनकी मृत्यु के बाद सन् 1967 में हुआ था। आत्मकथा में राहुल सांकृत्यायन के जीवन के 62 सालों का चित्रण है। प्रथम खण्ड में वंश-परिचय, जन्म, शैशव, शिला व तारुण्य का वर्णन है तथा दक्षिण भारत की यात्रा, मठ का आश्रय, आर्य समाज से सम्पर्क, महात्मा गांधी के प्रभाव आदि का दिग्दर्शन है। द्वितीय खण्ड में लंका, तिब्बत, जापान, रूस व यूरोप आदि की यात्रा, किसान सत्याग्रह, जेलयात्र, बौद्ध धर्म व साम्यवाद से प्रभावित होने की कथा है। तृतीय खण्ड में सोवियत प्रदेश के त्रि-वर्षीय निवास (1944 से 1947 तक) का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में 1947 से 1950 तक की घटनाओं का विवरण है। इस खण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा है उनका हिन्दी के प्रति समर्पण तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में उनका योगदान। अंतिम खण्ड में आत्मकथाकार ने साहित्यिक समस्याओं का उद्घाटन किया है।

इस विशाल और व्यापक आत्मकथा में लेखक की साहित्यिक अभिरुचियों, वैयक्तिक गुण-दोषों, अनुभूतियों, भावनाओं, यात्राओं तथा विशिष्ट उपलब्धियों का

विस्तृत वर्णन हुआ है। स्थान-स्थान पर उनकी रचनाधर्मिता, रचना-प्रक्रिया तथा लेखन स्रोतों का भी उल्लेख है। डॉ. हरदयाल के शब्दों में "मुहावरेदार भाषा में लिखी गयी यह आत्मकथा उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृत्ति से साकार हो उठी है।"

तृतीय चरण (1947-अब तक)

औपनिवेशिक काल के दौरान विपरीत परिस्थितियों में जन्मी देश की जाग्रत व्यक्तिनिष्ठ एवं सामूहिक चेतना अभिव्यक्ति के इस विशिष्ट क्षेत्र की ओर भी गतिमयता के साथ प्रवाहित हुई। तत्कालीन राष्ट्रीयता का प्रभाव आत्मकथाओं के विस्तार में प्रतिच्छायित है।

1947 में प्रकाशित बाबू राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में जीवन की दीर्घकालीन घटनाओं का अंकन एवं स्वचित्रण बिना किसी लाग-लपेट के तटस्थता के साथ आत्मकथा में सम्पादित है। लेखक के बचपन के तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होने वाली हानियों का, तत्कालीन गँवई जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्यौहारों का, शिक्षा की स्थितियों का हू-ब-हू चित्र राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' में अंकित है। तत्कालीन हिन्दू-मुसलमानों के बीच की असाम्प्रदायिक सहज सामान्य सामाजिक समन्वय की भावना का चित्र भी आत्मकथा अनायास ही उकेरती है। सरदार बल्लभभाई पटेल 'आत्मकथा' को मात्रा कृति ही नहीं इतिहास मानते हैं–"प्रायः पिछले 25 वर्षों से हमारा देश किस स्थिति को पहुँच गया है। इसका सजीव और एक पवित्र देशभक्त के हृदय में रंगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा।"

1951 में प्रकाशित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'स्वतंत्रता की खोज में, अर्थात् मेरी आत्मकथा' हिन्दी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आत्मकथा है। स्वतंत्रता की खोज में भटकते पथिक की यह कथा मानवता से जुड़ी आत्मा की छटपटाहट एवं तत्कालीन भारतीय राजनीतिक स्थितियों से सम्बद्ध है।

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का प्रकाशन लखनऊ से तीन खण्डों में हुआ है। प्रथम खण्ड में लेखक के बाल्य, शिक्षा तथा क्रान्तिकारी दल के कार्यों का उल्लेख होने से वैयक्तिक जीवन पर प्रचुर प्रकाश पड़ा है। कृति में आन्दोलन की घटनाओं की रहस्यात्मकता और रोमांचता के साथ-साथ अपनी विशिष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा के महत्त्व को लेखक ने निरूपित किया है,

व्यक्ति, परिवार और राजनीतिक दासता की स्थितियाँ और उनमें पनपती और विकसित होती क्रान्तिकारी चेतना को एकसाथ अंकित करती, यह आत्मकथा (सशस्त्र क्रान्ति की कहानी) की शैली विवेचनात्मक है। जो कहीं न कहीं उनके उपन्यासों की भाँति रोचक और मर्मस्पर्शी है।

पिता की पुण्य स्मृति के साथ इस आत्मकथा का प्रारम्भ होता है। यह कृति तत्कालीन हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सद्भाव को अंकित करती युगीन प्रवृत्तियों को चित्रित करती है। राजस्थानी शब्दों का अत्यन्त सहजता के साथ हिन्दी में घुलामिला स्वरूप आत्मकथा को असाधारण बनाता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और हिन्दी सेवी सेठ गोविंददास की आत्मकथा के तीन भाग 'प्रयत्न, प्रत्याशा और नियतारित' उपशीर्षकों सहित 'आत्म-निरीक्षण' शीर्षक से 1957 ई. में प्रकाशित हुए। तथ्यात्मकता, विश्लेषणात्मकता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता आदि गुणों के कारण यह आत्मकथा और महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लेखक ने अपने किये प्रेम और पिता की वेश्यानुसक्ति तक को नहीं छुपाया है। लेखक का सजग व्यक्तित्व उसकी आत्मकथा में सर्वत्र मुखर है। गांधी तथा नेहरू तक की आलोचना करने में उसने झिझक नहीं दिखाई। साहित्यकार सेठ गोविन्ददास की आत्मकथा की भाषा शैली की सृजनात्मकता इस विशिष्ट विधा को एक और आयाम देती है।

चतुरसेन शास्त्री की दो आत्मकथाएं, 'यादों की परछाइयां' (1956) तथा 'मेरी आत्म कहानी' (1963) प्राप्त होती है। 'यादों की परछाइयां' में लेखक के निजी जीवन के क्रमिक ब्यौरे का अभाव है, जबकि मरणोपरांत प्रकाशित 'मेरी आत्म कहानी' में पहले दो अध्यायों को छोड़कर शेष भाग अप्रामाणिकता का प्रश्नचिन्ह लगाये हुए हैं। डॉ. हरदयाल के शब्दों में "इसका कारण यह है कि पहले दो अध्याय तो लेखक ने स्वयं लिखे है तथा शेष अंश लेखक द्वारा छोड़े गये नोट्स के आधार पर उसके अनुज चंद्रसेन ने लिखा है। चूंकि इस बात का कहीं कोई संकेत नहीं है कि शेष अंश में से कितना चतुरसेन का है तथा कितना चंद्रसेन का। फलतः इस कृति को आत्मकथा की परिधि में रखना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।"

छठे दशक के प्रारम्भ में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' प्रकाशित हुई। दुषित एवं गर्हित परिवेश, पितृ-प्रेम का अभाव तथा उन्मत्त एवं क्रोधी भाई साहब का नियन्त्रण, 'उग्र' की नियति थी। 'अपनी खबर' में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने मुक्तिबोध के से आत्मीय और आकुल आवेग के

साथ अपनी 'अजीब जिंदगी में आए कुछ प्रमुख व्यक्तियों के चरित्र की गहरी छानबीन की है।

उग्र के सम्बंध में पंकज चतुर्वेदी का यह कथन सशक्त मालूम होता है, ''जिस समाज के साहित्य में जीवन के गर्हित सच से मुँह चुराने की नैतिक दुर्बलता के कारण न तो आत्मकथाओं की समृद्ध परम्परा बन पायी हो और न सशक्त वर्तमान, उसी हिन्दी समाज में रहते हुए उग्र ने उस दुनिया के वीभत्स अंधेरों को उजागर किया, जिसके वे मूक दर्शक नहीं रह पाए बल्कि विवश हिस्सेदार हुए।"

लोकप्रियता के क्रम में महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू के बाद हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा आती है, जिसने गद्य की इस विधा के लेखन में नवीन कीर्तिमान स्थापित किए हैं। आत्मकथा का प्रथम खण्ड 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' 1969 ई. में प्रकाशित हुआ। द्वितीय खण्ड 1970 ई. में 'नीड़ का निर्माण फिर' नाम से प्रकाशित। प्रथम खण्ड में जहाँ बच्चन ने अपने भाव-जगत और यौवनारम्भ के प्रथम अभिसारों का चित्रण किया है, वहाँ अपने कुल, परिवेश तथा पूर्व पुरुषों का भी अत्यन्त रोचक तथा सरस शैली में वर्णन किया है। द्वितीय खण्ड अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुखी और आत्म विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से युक्त है। तृतीय खण्ड 'बसेरे से दूर' में प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी का अध्यापक बनने और सह अध्यापक लोगों से द्वेष का चित्रण है। कृति की दृष्टि से रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इसे अनमोल एवं अत्यन्त महत्त्व की रचना' घोषित किया है। बच्चन जी की आत्म-कथा के अंतिम खण्ड का शीर्षक 'दशद्वार से सोपान तक' है।

1970 में प्रकाशित 'निराला की आत्मकथा' सूर्यप्रसाद दीक्षित द्वारा संकलित संयोजित एवं सम्पादित है। इस आत्मकथा में निराला के बाल्यकाल की स्मृतियाँ, विवाह, दाम्पत्यभाव, राजा की नौकरी, हिन्दी पढ़ना एवं वंश क्षति आदि से सम्बन्धित घटनाओं के साथ रचना-प्रक्रिया तथा साहित्यिक जीवन का भी विस्तृत विवेचन है। कवि कथाकार रामदरश मिश्र की तीन भागों में प्रकाशित आत्मकथा का केवल एक खण्ड 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' (1984) ही प्रकाशित हुआ। इस आत्मकथा की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऊबड़-खाबड़ गाँवों की जिंदगी ज्यों की त्यों साकार हो उठी है।

भवानी दयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्मकथा' (1947), गणेशप्रसाद वर्णी की 'मेरी जीवनगाथा', अजितप्रसाद जैन की 'अज्ञात जीवन' (1951), अलगूराय शास्त्री कृत 'मेरा जीवन' (1951), नरदेव शास्त्री कृत 'आपबीत

जगबीत' (1957), पृथ्वी सिंह आजाद कृत 'क्रांतिपथ का पथिक' (1964), आबिदअली द्वारा हिन्दुस्तानी में कृत 'मजदूर से मिनिस्टर' (1968), चतुभुर्ज शर्मा कृत 'विद्रोही की आत्मकथा' (1970), मूलचंद अग्रवाल कृत 'एक पत्रकार की आत्मकथा' (1944), गणेश वासुदेव मावलंकर कृत 'मेरा वकालती जीवन' (1964), विश्वनाथ लाहिरी द्वारा लिखित 'एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा' (1984) जैसी आत्मकथाएँ प्रेरणा की अक्षय स्रोत हैं, जिनका आत्मकथा की विकास यात्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

निबन्ध

निबन्ध (Essay) गद्य लेखन की एक विधा है। लेकिन इस शब्द का प्रयोग किसी विषय की तार्किक और बौद्धिक विवेचना करने वाले लेखों के लिए भी किया जाता है। निबंध के पर्याय रूप में सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव का भी उल्लेख किया जाता है। लेकिन साहित्यिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित शब्द निबंध ही है। इसे अंग्रेजी के कम्पोजीशन के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत में भी निबंध का साहित्य है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के उन निबंधों में धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों की तार्किक व्याख्या की जाती थी। उनमें व्यक्तित्व की विशेषता नहीं होती थी, किन्तु वर्तमान काल के निबंध संस्कृत के निबंधों से ठीक उलटे हैं। उनमें व्यक्तित्व या वैयक्तिकता का गुण सर्वप्रधान है।

इतिहास-बोध परम्परा की रूढ़ियों से मनुष्य के व्यक्तित्व को मुक्त करता है। निबंध की विधा का संबंध इसी इतिहास-बोध से है। यही कारण है कि निबंध की प्रधान विशेषता व्यक्तित्व का प्रकाशन है।

निबंध की सबसे अच्छी परिभाषा है-

निबंध, लेखक के व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाली ललित गद्य-रचना है। इस परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष है। लेकिन निबंध का रूप साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इतना स्वतंत्र है कि उसकी सटीक परिभाषा करना अत्यंत कठिन है।

निबंध की विशेषता

सारी दुनिया की भाषाओं में निबंध को साहित्य की सृजनात्मक विधा के रूप में मान्यता आधुनिक युग में ही मिली है। आधुनिक युग में ही मध्ययुगीन

धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति का द्वार दिखाई पड़ा है। इस मुक्ति से निबंध का गहरा संबंध है।

ललित अत्री जी, के अनुसार-नए युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है वे व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज है। इस प्रकार निबंध में निबंधकार की स्वच्छंदता का विशेष महत्त्व है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल PC ने लिखा है–

निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों के दृष्टि-पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

इसका तात्पर्य यह है कि निबंध में किन्हीं ऐसे ठोस रचना-नियमों और तत्वों का निर्देश नहीं दिया जा सकता, जिनका पालन करना निबंधकार के लिए आवश्यक है। ऐसा कहा जाता है कि निबंध एक ऐसी कलाकृति है। जिसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। निबंध में सहज, सरल और आडम्बरहीन ढंग से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है।

'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार–

लेखक बिना किसी संकोच के अपने पाठकों को अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेने के लिए आमंत्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन होगी, उसका निबंध पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयता के फलस्वरूप निबंध-लेखक पाठकों को अपने पांडित्य से अभिभूत नहीं करना चाहता।

इस प्रकार निबंध के दो विशेष गुण हैं-

(1) व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

(2) सहभागिता का आत्मीय या अनौपचारिक स्तर

निबंध का आरंभ कैसे हो, बीच में क्या हो और अंत किस प्रकार किया जाए, ऐसे किसी निर्देश और नियम को मानने के लिए निबंधकार बाध्य नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि निबंध एक उच्छृंखल रचना है और निबंधकार

एक उच्छृंखल व्यक्ति। निबंधकार अपनी प्रेरणा और विषय वस्तु की संभावनाओं के अनुसार अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन और रचना का संगठन करता है। इसी कारण निबंध में शैली का विशेष महत्त्व है।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों से निबंध लिखने की परम्परा का आरंभ होता है। निबंध ही नहीं, गद्य की कई विधाओं का प्रचलन भारतेन्दु से होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि गद्य और उसकी विधाएँ आधुनिक मनुष्य के स्वाधीन व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल हैं। मोटे रूप में स्वाधीनता आधुनिक मनुष्य का केन्द्रीय भाव है। इस भाव के कारण परम्परा की रूढ़ियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामयिक परिस्थितियों का दबाव अनुभव होता है। भविष्य की संभावनाएँ खुलती जान पड़ती है। इसी को इतिहास-बोध कहा जाता है। भारतेन्दु युग का साहित्य इस इतिहास-बोध के कारण आधुनिक माना जाता है।

जीवनी

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और जीवनी-लेखक टामस कारलाइल ने अत्यंत सीधी सादी और संक्षिप्त परिभाषा में इसे 'एक व्यक्ति का जीवन' कहा है। इस तरह किसी व्यक्ति के जीवन वृत्तांतों को सचेत और कलात्मक ढंग से लिख डालना जीवनचरित कहा जा सकता है। यद्यपि इतिहास कुछ हद तक, कुछ लोगों की राय में, महापुरुषों का जीवनवृत्त है तथापि जीवन चरित उससे एक अर्थ में भिन्न हो जाता है। जीवन चरित में किसी एक व्यक्ति के यथार्थ जीवन के इतिहास का आलेखन होता है, अनेक व्यक्तियों के जीवन का नहीं। फिर भी जीवनचरित का लेखक इतिहासकार और कलाकार के कर्त्तव्य के कुछ समीप आए बिना नहीं रह सकता। जीवन चरितकार एक ओर तो व्यक्ति के जीवन की घटनाओं की यथार्थता इतिहासकार की भाँति स्थापित करता है, दूसरी ओर वह साहित्यकार की प्रतिभा और रागात्मकता का तथ्यनिरूपण में उपयोग करता है। उसकी यह स्थिति संभवत: उसे उपन्यासकार के निकट भी ला देती है।

जीवनचरित की सीमा का यदि विस्तार किया जाय तो उसके अंतर्गत आत्मकथा भी आ जायगी। यद्यपि दोनों के लेखक पारस्परिक रुचि और संबद्ध विषय की भिन्नता के कारण घटनाओं के यथार्थ आलेखन में सत्य का निर्वाह

समान रूप से नहीं कर पाते। आत्मकथा के लेखक में सतर्कता के बावजूद वह आलोचनात्मक तर्कना चरित्र विश्लेषण और स्पष्टचारिता नहीं आ पाती जो जीवनचरित के लेखक विशिष्टता होती है। इस भिन्नता के लिये किसी को दोषी नहीं माना जा सकता। ऐसा होना पूर्णत: स्वाभाविक है।

इतिहास

जीवनचरित के प्राचीनतम रूपों के उदाहरण किसी भी देश के धार्मिक, पौराणिक आख्यानों और दंतकथाओं में मिल सकते हैं, जिनमें मानवीय चरित्रों, उनके मनोविकारों और मनोभावों का रूपायन हुआ हो। अधिकांशत: दैवी और मानवीय चरित्रों में जीवनचरित्र के कुछेक लक्षण मिल जाते हैं। जिनका निर्माण उस काल से ही होता चला आ रहा है, जब लेखनकला का विकास भी नहीं हुआ था और इस प्रयोजन के निमित्त मिट्टी और श्रीपत्रों का प्रयोग होता था।

मिस्र और पश्चिमी एशिया के देशों में पत्थरों पर, राजाओं की कब्र की रेलिंगों, स्तंभों और दीवारों की चिकनी सतह पर उनके जीवन की विजयादि से संबंधित बातें उत्कीर्ण करने की परंपरा बहुत पहले ही चल पड़ी थी। उनके जीवनकाल में भी प्रशस्तियों के रूप में इस तरह की उत्कीर्णन होते रहते थे। इस तरह की सामग्री को जीवन-चरित का प्राचीन और प्रारंभिक रूप माना जा सकता है। ऐसे जीवनवृत्तांत इतिहास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं तथापि कभी–कभी इतिहासकार को उनका उपयोग बड़ी सतर्कता से करना पड़ता है।

चीन में ई. पू. प्रथम शताब्दी के स्सु-मा चिएन ने अपने ऐतिहासिक संस्करणें के एक भाग में समकालीन विशिष्ट व्यक्तियों का जीवनचरित लिखा। बाद में चीनी सम्राट् चिएन के तत्वावधान में चीन की वंशावलियों का इतिहास 1747 में 214 खंडों में संगृहीत और प्रकाशित हुआ, जिसमें चीन के पाँच काल्पनिक सम्राटों से लेकर स्सु-मा-चिएन के काल तक के सम्राटों का इतिवृत्तात्मक वर्णन हुआ। ज्योतिषियों, राजनीतिज्ञों, राजसभासदों, हत्यारों तक के जीवन भी उक्त ग्रंथों में लिखे गए। प्राय: उसी समय लिउहिसयांग ने विशिष्ट महिलाओं की जीवनी लिखी। उससे प्रकट है कि ईसा के पूर्व भी चीनी साहित्य में जीवनचरित का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

यूनानी जीवनीकारों में प्लूतार्क विशेष महत्त्व का है। उसकी कृति में यूनान, रोम और फारस के 46 विशिष्ट और यशस्वी व्यक्तियों के जीवन वृत्तांतों का वर्णन हुआ है। प्लूतार्क से भी चार शताब्दियों पूर्व एक महत्त्वपूर्ण जीवनी

'अनाबासिस सुकरात' के शिष्य जनोफोन ने लिखी। बाद के प्रसिद्ध यूनानी जीवनीकारों में फ्लावियस फिलोस्त्रातस और दियोजिकी लेइर्तियस के नाम उल्लेखनीय हैं।

लातीनी साहित्य में पहली सदी ईसा पूर्व का जीवनी-लेखक कार्नेलियस नेपोस विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने कातो और उसके मित्र सिसरो के चरित लिखे। कार्नेलियस के अन्य जीवनचरित विशिष्ट सेनानायकों से संबंधित हैं।

अंग्रेजी साहित्य में 17वीं सदी के पूर्व का जीवनी साहित्य एक तरह से बहुत संक्षिप्त है। एलिजाबेथ के समकालीन विशिष्ट व्यक्तियों की, यहाँ तक कि शेक्सपीयर आदि की भी, जीवनी के अभाव में साहित्यकारों और इतिहासकारों को शु डिग्री में अनेक अड़चनों का सामना करना पड़ा था। बाद में उस दिशा में अनेक प्रयत्न हुए। 18वीं सदी तक आते-आते इसका काफी विकसित रूप जेम्स बासवेल द्वारा लिखित सेम्युअल जान्सन की जीवनी में देखने को मिलता है। 1791 ई. में इस जीवनी का प्रकाशन अंग्रेजी जीवनी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह ग्रंथ जीवनी-लेखकों के लिये एक निश्चित शैली और स्वरूप का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इसी तरह अमेरीका, फ्रांस, स्पेन तथा यूरोपीय महाद्वीप के अन्य देशों के साहित्य में जीवनी-लेखक की जीवित परंपरा देखी जा सकती है। यह साहित्य जीवनचरित के रूप में और आत्मकथा के रूप में रचा गया है।

भारत में जीवनचरित

भारत में ई. पू. तीसरी शताब्दी के मौर्य सम्राट् अशोक द्वारा शिलाओं पर उत्कीर्ण अभिलेख आदि भी आत्मकथा के ही रूप हैं। यह परंपरा अशोक के बाद अधिकांश भारतीय नरेशों में चल पड़ी थी। जीवन की अथवा प्रशासन की किसी विशिष्ट घटना को जीवित रखने के लिये वे उसे पत्थर के स्तंभों, मंदिरों और उनकी दीवारों, ताम्रपत्रों आदि पर अंकित करवा देते थे। कुषाण और विशेषत: गुप्त सम्राटों का काल इस तरह के संदर्भों से भरा पड़ा है। इसके साथ ही कभी-कभी जीवनी लेखन का स्पष्ट रूप भी दिखाई पड़ जाता है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित एक ऐसा ही उदारहण है।

बाद के मुगल बादशाहों में तो आत्मकथा लिखना चाव और रुचि की बात ही हो गई थी। बाबर से लेकर जहाँगीर तक सभी ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, जो

क्रमशः इस प्रकार है–बाबरनामा, हुमायूनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा।

भारतीय सम्राटों, मुगल बादशाहों तथा राजपूत राजा और रजवाड़ों में आश्रय पानेवाले कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं के जीवनवृत्तातों का विस्तृत वर्णन अपने काव्य ग्रंथों में किया है। काव्य के नायक के रूप में किसी नरेश, अथवा आश्रयदाता का चयन करने के पश्चात् उनकी जीवनी का रूपायन कविता की पंक्तियों में कर डालना एक सामान्य बात हो गई थी। इस तरह के काव्य को हिन्दी साहित्य के चरितकाव्य की संज्ञा दी गई है। ऐसे काव्यों की रचना हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल और विशेषतः रीतिकाल के बहुलता से हुई है। वीरगाथा काल के रासों काव्यों को इसी श्रेणी में माना जा सकता है। रीतिकाल में इस तरह के चरित काव्यों के अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं, जिनकी रचना समय समय पर कवियोंद्वारा होती रही है।

नाभा दास का 'भक्तमाल' तथा उसपर प्रियादास की टीका भक्तों के जीवनचरित के संग्रह ग्रंथ हैं। कई अन्य भक्तकवियों ने भी 'भक्तमाल' नाम से जीवनचरित संग्रह ग्रंथों की रचना की। पुष्टिमार्गीय वैष्णव संतों और कवियों के ब्रजभाषा गद्य में अंकित जीवनचरित के दो संग्रह 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अपने ढंग से बेजोड़ ग्रंथ हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक गद्य काल में तो अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि पश्चिमी भाषाओं के साथ साथ हिंदी, बंगला, मराठी आदि में भी प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवनचरित लिखने की प्रवृत्ति यथेष्ट रूप से बढ़ती जा रही है। आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक आत्मकथा, देशरत्न स्व. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा और जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा, इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संस्मरण

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत सूक्ष्म अंतर है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। संस्मरण का सामान्य अर्थ होता है सम्यक् स्मरण। सामान्यतः इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसी महान व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका

पुनर्सृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्णय विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। आत्मकथात्मक विधा होते हुए भी संस्मरण आत्मकथा से पर्याप्त भिन्नता रखता है।

आरंभिक युग

बालमुकुंद गुप्त द्वारा सन् 1907 में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिंदी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केंद्रित गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्णय विषय बनाकर पंद्रह संस्मरणों की रचना की गई है।

द्विवेदी युग

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य विधाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 'सरस्वती' में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नई गद्य विधाओं के लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदी जी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशीप्रसाद जायसवाल और श्यामसुंदर दास हैं। श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर उस समय से आरंभ हुई परंपरा आज तक लगातार चल रही है।

छायावादोत्तर युग

रेखाचित्र की तरह ही संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्म सिंह शर्मा (1876-1932) का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबंध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है।

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को अपने 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर इन रेखाचित्रों में अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखी गई सर्वश्रेष्ठ टिप्पणी कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी।

निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना संभव नहीं है, लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

प्रकाशचंद गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचंद्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1950 के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे। बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। अपनी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर इनके मानवीय पक्ष की प्रबलता को साफ देखा जा सकता है। इनके संस्मरण रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यंत सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने अपनी कृतियों 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' के कारण इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण संस्मरण लेखक हैं। लगभग इसी समय उपेंद्रनाथ अश्क का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ, जिसका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय की महत्त्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए।

संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्विक भेद नहीं मानने वाले आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने 'चेतना के बिंब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं।

समकालीन युग

समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। संस्मरण आज बहुतायत में लिखे जा रहे हैं। अपने अतीत को बयान करने की ललक हर आदमी के भीतर होती है और उसकी अभिव्यक्ति करना अन्य विधाओं की

तुलना में काफी आसान होता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नई ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। इनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'नंगातलाई का गाँव' (2004) को उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है। वर्तमान समय के संस्मरण लेखकों में काशीनाथ सिंह, कांतिकुमार जैन, राजेंद्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया अखिलेश का नाम काफी प्रमुखता से ले सकते हैं।

रेखाचित्र

रेखाचित्र कहानी से मिलता-जुलता साहित्य रूप है। यह नाम अंग्रेजी के श्स्केच' शब्द की नाप-तोल पर गढ़ा गया है। स्केच चित्रकला का अंग है। इसमें चित्रकार कुछ इनी-गिनी रेखाओं द्वारा किसी वस्तु-व्यक्ति या दृश्य को अंकित कर देता है-स्केच रेखाओं की बहुलता और रंगों की विविधता में अंकित कोई चित्र नहीं है, न वह एक फोटो ही है, जिसमें नन्हीं से नन्हीं और साधारण से साधारण वस्तु भी खिंच आती है।

साहित्य में रेखाचित्र

साहित्य में जिसे रेखाचित्र कहते हैं, उसमें भी कम से कम शब्दों में कलात्मक ढंग से किसी वस्तु, व्यक्ति या दृश्य का अंकन किया जाता है। इसमें साधन शब्द है, रेखाएँ नहीं। इसीलिए इसे शब्द चित्र भी कहते हैं। कहीं-कहीं इसका अंग्रेजी नाम श्स्केच' भी व्यवहृत होता है।

रेखाचित्र का स्वरूप

रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्म-स्पर्शी, भावपूर्ण एवं सजीव अंकन है। कहानी से इसका बहुत अधिक साम्य है- दोनों में क्षण, घटना या भाव विशेष पर ध्यान रहता है, दोनों की रूपरेखा संक्षिप्त रहती है और दोनों में कथाकार के नैरेशन और पात्रों के संलाप का प्रसंगानुसार उपयोग किया जाता है। इन विधाओं के साम्य के कारण अनेक कहानियों को भी रेखाचित्र कह दिया जाता है और इसके ठीक विपरीत अनेक रेखाचित्रों को कहानी की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। कहीं-कहीं लगता है, कहानी और रेखाचित्र के बीच विभाजन रेखा खींचना सरल नहीं है। उदाहरण के लिए

रायकृष्णदास लिखित 'अन्त:पुर का आरम्भ' कहानी है, पर वह आदिम मनुष्य की अन्त:वृत्ति पर आधारित 'रेखाचित्र' भी है। रामवृक्ष बेनीपुरी की पुस्तक 'माटी की मूरतें' में संकलित 'रजिया', 'बलदेव सिंह', 'देव' आदि रेखाचित्र कहानियाँ भी हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा लिखित 'रामा', शीसा' आदि रेखाचित्र भी कहानी कह जाते हैं। कहानी और रेखाचित्र में साम्य है अवश्य, पर जैसा कि 'शिप्ले' के 'विश्व साहित्य कोश' में कहा गया है, रेखाचित्र में कहानी की गहराई का अभाव रहता है। दूसरी बात यह भी है कि कहानी में किसी न किसी मात्रा में कथात्मकता अपेक्षित रहती है, पर रेखाचित्र में नहीं।

आत्मकथा और संस्मरण से भिन्न

व्यक्तियों के जीवन पर आधारित रेखाचित्र लिखे जाते हैं, पर रेखाचित्र जीवनचरित नहीं है। जीवनचरित के लिए यथातथ्यता एवं वस्तुनिष्ठता अनिवार्य है। इसमें कल्पना के लिए अवकाश नहीं रहता, लेकिन रेखाचित्र साहित्यिक कृति है- लेखक अपनी भावना एवं कल्पना की तूलिका से ही विभिन्न चित्र अंकित करता है। जीवनचरित में समग्रता का भी आग्रह रहता है, इसमें सामान्य एवं महत्त्वपूर्ण सब प्रकार की घटनाओं के चित्रण का प्रयत्न रहता है, लेकिन रेखा चित्रकार गिनी-चुनी रेखाओं, गिनी-चुनी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही उपयोग करता है। इन बातों से यह भी स्पष्ट है कि रेखाचित्र आत्मकथा और संस्मरण से भी भिन्न अस्तित्व रखता है।

रेखाचित्र की विशेषता

रेखाचित्र की विशेषता विस्तार में नहीं, तीव्रता में होती है। रेखाचित्र पूर्ण चित्र नहीं है-वह व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि का एक निश्चित विवरण की न्यूनता के साथ-साथ तीव्र संवेदनशीलता वर्तमान रहती है। इसीलिए रेखाचित्रंकन का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है, उस दृष्टि बिन्दु का निर्धारण, जहाँ से लेखक अपने वर्णय विषय का अवलोकन कर उसका अंकन करता है। इस दृष्टि से व्यंग्य चित्र और रेखाचित्र की कलाएँ बहुत समान हैं। दोनों में दृष्टि की सूक्ष्मता तथा कम से कम स्थान में अधिक से अधिक अभिव्यक्त करने की तत्परता परिलक्षित होती है। रेखाचित्र के लिए संकेत सामर्थ्य भी बहुत आवश्यक है- रेखाचित्रकार शब्दों और वाक्यों से परे भी बहुत कुछ कहने की क्षमता रखता है। रेखाचित्र के लिए

उपयुक्त विषय का चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी विषय वस्तु ऐसी होती है, जिसे विस्तृत वर्णन और रंगों की अपेक्षा न हो और जो कुछ ही रेखाओं के संघात से चमक उठे।

उदाहरण–

चाँदनी रात में 'ताजमहल' की शोभा को रेखाचित्र में बाँधा जा सकता है, पर शाहजहाँ और मुमताज महल की प्रेमकथा को रेखाचित्र की सीमा में बाँध सकना कठिन काम है।

विषय और शैली

रेखाचित्र के लिए विषय का बन्धन नहीं रहता, सब प्रकार के विषयों का इसमें समावेश हो सकता है। मूल चेतना के आधार पर रेखाचित्रों को अनेक वर्गों में रखा जा सकता है–

संस्मरणात्मक
वर्णनात्मक
व्यंग्यात्मक
मनोवैज्ञानिक आदि

हिंदी में रेखाचित्र

हिन्दी में अनेक लेखकों ने रेखाचित्र लिखे हैं। इस क्षेत्र के कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं–

बनारसीदास चतुर्वेदी– 'रेखाचित्र'

महादेवी वर्मा–'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'शृंखला की कड़ियाँ'

रामवृक्ष बेनीपुरी–'माटी की मूरतें' तथा 'गेहूँ और गुलाब'

प्रकाशचन्द्र गुप्त–'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच तथा रेखाचित्र'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'– 'भूले हुए चेहरे' आदि।

3

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग अथवा पुर्नजागरण-काल का उदय आधुनिक हिन्दी गद्य-साहित्य में हिन्दी-कविता के लिए नवीन-जागरण के संदेशवाहक-युग के रूप में हुआ था, किन्तु इसके सीमाँ कन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के रचनाकाल को दृष्टि में रख कर सम्वत् 1925 से 1950 की अवधि को 'नयी-धारा' अथवा 'प्रथम-उत्थान' की संज्ञा दी है और इस काल को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतियों से समृद्ध माना गया है, किन्तु उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ लेखकों का वैमत्य है। मिश्रबन्धुओं ने 1926 से 1945 वि. सम्वत् तक, डॉ. रामकुमार वर्मा ने 1927 से 1957 वि. सम्वत् तक, डॉ. केसरी नारायण शुक्ल ने 1922 से 1957 वि. सम्वत् तक और डॉ. रामविलास शर्मा ने 1925 से 1957 वि. सम्वत् तक 'भारतेन्दु युग' की व्याप्ति मानी है।

उल्लेखनीय यह है कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन 1868 ई. में प्रारम्भ हुआ था। अतः भारतेन्दु युग का उदय 1968 ई. (1925 वि. सम्वत्) से मानना उचित है तथा इसी तर्क का अनुसरण करते हुए 'सरस्वती' नामक पत्रिका का प्रकाशन-वर्ष 1900 ई. को भारतेन्दु-युग की समाप्ति का सूचक भी माना जा सकता है। यह ठीक ही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देहावसान के साथ ही भारतेन्दु-युग की समाप्ति न मान कर उनके समकालीन कवियों के द्वारा बाद में रचित-कृतियों को ध्यान में रखते हुए

इस काल की व्याप्ति 1900 ई. तक स्वीकार की गयी, क्यों कि इस समय तक हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में अने कों नवीन प्रवृत्तियो का उदय होने लगा था, किन्तु यह जिज्ञासा प्रासंगिक हो गी कि रीतिकाल के समापन से ले कर भारतेन्दु-युग का पूर्वकाल (1843 से 1867 ई.) तक की रचनाओं का अनुशीलन किस संदर्भ में किया जाना चाहिए ?

वस्तुत: इतिहास का कोई भी काल सहस्र ही समाप्त नहीं हो सकता है और प्राय: अगले एक-दो दशक तक उसकी रचना, प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। इसी भाँति किसी नये युग का सुभारम्भ भी सहसा नहीं होता है, उसके स्वरूप-निर्माण की प्रक्रिया के बीज, दस-बीस साल तक के पहले साहित्य मे विद्यमान रहते हैं। 1843 से 1867 ई. तक का कृतित्व न तो पूर्णत: रीतिकाल के प्रभाव क्षेत्र में आता है और न ही इसमें भारतेन्दु-युग की पुर्नजागरण-मूलक प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। अत: इसका अनुशीलन भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन परिचय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म 9 सितम्बर, 1850 को काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता गोपालचंद्र एक अच्छे कवि थे और 'गिरधरदास' उपनाम से कविता लिखा करते थे। 1857 में प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी आयु 7 वर्ष की होगी। ये दिन उनकी आँख खुलने के थे। भारतेन्दु का कृतित्व साक्ष्य है कि उनकी आँखें एक बार खुलीं तो बन्द नहीं हुईं। उनके पूर्वज अंग्रेज भक्त थे, उनकी ही कृपा से धनवान हुये थे। हरिश्चंद्र पाँच वर्ष के थे, तो माता की मृत्यु और दस वर्ष के थे, तो पिता की मृत्यु हो गई। इस प्रकार बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गये। विमाता ने खूब सताया। बचपन का सुख नहीं मिला। शिक्षा की व्यवस्था प्रथापालन के लिए होती रही। संवेदनशील व्यक्ति के नाते उनमें स्वतन्त्र रूप से देखने-सोचने-समझने की आदत का विकास होने लगा। पढ़ाई की विषय-वस्तु और पद्धति से उनका मन उखड़ता रहा। क्वींस कॉलेज, बनारस में प्रवेश लिया, तीन-चार वर्षों तक कॉलेज आते-जाते रहे पर यहाँ से मन बार-बार भागता रहा। स्मरण शक्ति तीव्र थी, ग्रहण क्षमता अद्‌भुत। इसलिए परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे। बनारस में उन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे और प्रसिद्ध लेखक-राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' थे, भारतेन्दु शिष्य भाव से उनके यहाँ जाते। उन्हीं से अंग्रेजी सीखी।

भारतेन्दु ने स्वाध्याय से संस्कृत, मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, उर्दू भाषाएँ सीख लीं।

उनको काव्य-प्रतिभा अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी। उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही निम्नलिखित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया और सुकवि होने का आशीर्वाद प्राप्त किया-

लै ब्योढ़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सेन को हनन लगे भगवान॥

धन के अत्यधिक व्यय से भारतेंदु जी ऋणी बन गए और दुश्चिंताओं के कारण उनका शरीर शिथिल होता गया। परिणाम स्वरूप 1885 में अल्पायु में ही मृत्यु ने उन्हें ग्रस लिया।

साहित्यिक परिचय

भारतेन्दु के वृहत साहित्यिक योगदान के कारण ही 1857 से 1900 तक के काल को भारतेन्दु युग के नाम से जाना जाता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, भारतेन्दु अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो पद्माकर, द्विजदेव की परम्परा में दिखाई पड़ते थे, तो दूसरी ओर बंग देश के माइकेल और हेमचन्द्र की श्रेणी में। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।

पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही भारतेन्दु ने साहित्य सेवा प्रारम्भ कर दी थी। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कविवचनसुधा' नामक पत्रिका निकाली, जिसमें उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों की रचनाएँ छपती थीं। वे बीस वर्ष की अवस्था में ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाए गए और आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने 1868 में 'कविवचनसुधा', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 1874 में स्त्री शिक्षा के लिए 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिकाएँ निकाली। साथ ही उनके समांतर साहित्यिक संस्थाएँ भी खड़ी की। वैष्णव भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की थी। राजभक्ति प्रकट करते हुए भी, अपनी देशभक्ति की भावना के कारण, उन्हें अंग्रेजी हुकूमत का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी लोकप्रियता से प्रभावित होकर काशी के विद्वानों ने 1880 में उन्हें 'भारतेंदु' (भारत का चंद्रमा) की उपाधि प्रदान की। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु की देन भाषा तथा साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में है। भाषा के क्षेत्र में उन्होंने खड़ी बोली के उस रूप को प्रतिष्ठित किया जो उर्दू से भिन्न है

और हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का रस लेकर संवर्धित हुआ है। इसी भाषा में उन्होंने अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य की रचना की। साहित्य सेवा के साथ-साथ भारतेंदु जी की समाज-सेवा भी चलती रही। उन्होंने कई संस्थाओं की स्थापना में अपना योग दिया। दीन-दुखियों, साहित्यिकों तथा मित्रों की सहायता करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

प्रमुख कृतियाँ

मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873 ई., प्रहसन)

सत्य हरिश्चन्द्र (1875,नाटक)

श्री चंद्रावली (1876, नाटिका)

विषस्य विषमौषधम् (1876, भाण)

भारत दुर्दशा (1880, ब्रजरत्नदास के अनुसार 1876, नाट्य रासक),

नीलदेवी (1881, ऐतिहासिक गीति रूपक)।

अंधेर नगरी (1881, प्रहसन)

प्रेमजोगिनी (1875, प्रथम अंक में चार गर्भांक, नाटिका)

सती प्रताप (1883,अपूर्ण, केवल चार दृश्य, गीतिरूपक, बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया)

अनूदित नाट्य रचनाएँ

विद्यासुन्दर (1868,नाटक, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बँगला संस्करण का हिंदी अनुवाद)

पाखण्ड विडम्बन (कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद)

धनंजय विजय (1873, व्यायोग, कांचन कवि कृत संस्कृत नाटक का अनुवाद)

कर्पूर मंजरी (1875, सट्टक, राजशेखर कवि कृत प्राकृत नाटक का अनुवाद)

भारत जननी (1877, नाट्यगीत, बंगला की 'भारतमाताश्के हिंदी अनुवाद पर आधारित)

मुद्राराक्षस (1878, विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद)
दुर्लभ बंधु (1880, शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद)
निबंध संग्रह

नाटक

कालचक्र (जर्नल)
लेवी प्राण लेवी
भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?
कश्मीर कुसुम
जातीय संगीत
संगीत सार
हिंदी भाषा
स्वर्ग में विचार सभा
काव्यकृतियां
भक्तसर्वस्व (1870)
प्रेममालिका (1871),
प्रेम माधुरी (1875),
प्रेम-तरंग (1877),
उत्तरार्द्ध भक्तमाल (1876-77),
प्रेम-प्रलाप (1877),
होली (1879),
मधु मुकुल (1881),
राग-संग्रह (1880),
वर्षा-विनोद (1880),
विनय प्रेम पचासा (1881),
फूलों का गुच्छा- खड़ीबोली काव्य (1882)
प्रेम फुलवारी (1883)
कृष्णचरित्र (1883)
दानलीला
तन्मय लीला
नये जमाने की मुकरी

सुमनांजलि
बन्दर सभा (हास्य व्यंग)
बकरी विलाप (हास्य व्यंग)

कहानी

अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न
यात्रा वृत्तान्त
सरयूपार की यात्रा
लखनऊ

आत्मकथा

एक कहानी- कुछ आपबीती, कुछ जगबीती
उपन्यास
पूर्णप्रकाश
चन्द्रप्रभा

वर्णय विषय

भारतेंदु जी की यह विशेषता रही कि जहाँ उन्होंने ईश्वर भक्ति आदि प्राचीन विषयों पर कविता लिखी वहां उन्होंने समाज सुधार, राष्ट्र प्रेम आदि नवीन विषयों को भी अपनाया। भारतेंदु की रचनाओं में अंग्रेजी शासन का विरोध, स्वतंत्रता के लिए उद्दाम आकांक्षा और जातीय भावबोध की झलक मिलती है। सामन्ती जकड़न में फंसे समाज में आधुनिक चेतना के प्रसार के लिए लोगों को संगठित करने का प्रयास करना उस जमाने में एक नई ही बात थी। उनके साहित्य और नवीन विचारों ने उस समय के तमाम साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को झकझोरा और उनके इर्द-गिर्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेखकों का एक ऐसा समूह बन गया जिसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है।

विषय के अनुसार उनकी कविता शृंगार-प्रधान, भक्ति-प्रधान, सामाजिक समस्या प्रधान तथा राष्ट्र प्रेम प्रधान है।

शृंगार रस प्रधान भारतेंदु जी ने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का सुंदर चित्रण किया है। वियोगावस्था का एक चित्र देखिए-

देख्यो एक बारहूं न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहें तही पछतायगी।
बिना प्रान प्यारे भए दरसे तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रह जायगी।

भक्ति प्रधान भारतेंदु जी कृष्ण के भक्त थे और पुष्टि मार्ग के मानने वाले थे। उनको कविता में सच्ची भक्ति भावना के दर्शन होते हैं। वे कामना करते हैं–

बोल्यों करै नूपुर स्त्रीननि के निकट सदा
पद तल मांहि मन मेरी बिहरयौ करै।
बाज्यौ करै बंसी धुनि पूरि रोम-रोम,
मुख मन मुस्कानि मंद मनही हास्यौ करै।

सामाजिक समस्या प्रधान भारतेंदु जी ने अपने काव्य में अनेक सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किए। महाजनों और रिश्वत लेने वालों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–

चूरन अमले जो सब खाते,
दूनी रिश्वत तुरत पचाते।
चूरन सभी महाजन खाते,
जिससे जमा हजम कर जाते।

राष्ट्र-प्रेम प्रधान भारतेंदु जी के काव्य में राष्ट्र-प्रेम भी भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारत के प्राचीन गौरव की झांकी वे इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं–

भारत के भुज बल जग रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय कंपिथ संसारा।

प्राकृतिक चित्रण प्रकृति चित्रण में भारतेंदु जी को अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि वे मानव-प्रकृति के शिल्पी थे, बाह्य प्रकृति में उनका मर्मपूर्ण रूपेण नहीं रम पाया। अतः उनके अधिकांश प्रकृति चित्रण में मानव हृदय को आकर्षित करने की शक्ति का अभाव है। चंद्रावली नाटिका के यमुना-वर्णन में अवश्य सजीवता है तथा उसकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ नवीनता लिए हुए हैं–

कै पिय पद उपमान जान यह निज उर धारत,
कै मुख कर बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झांई,
कै ब्रज हरिपद परस हेतु कमला बहु आई।

प्रकृति वर्णन का यह उदहारण देखिये, जिसमे युमना की शोभा कितनी दर्शनीय है-

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहूँ सुहाये।।

भाषा

भारतेन्दु के समय में राजकाज और संभ्रांत वर्ग की भाषा फारसी थी। वहीं, अंग्रेजी का वर्चस्व भी बढ़ता जा रहा था। साहित्य में ब्रजभाषा का बोलबाला था। फारसी के प्रभाव वाली उर्दू भी चलन में आ गई थी। ऐसे समय में भारतेन्दु ने लोकभाषाओं और फारसी से मुक्त उर्दू के आधार पर खड़ी बोली का विकास किया। आज जो हिंदी हम लिखते-बोलते हैं, वह भारतेंदु की ही देन है। यही कारण है कि उन्हें आधुनिक हिंदी का जनक माना जाता है। केवल भाषा ही नहीं, साहित्य में उन्होंने नवीन आधुनिक चेतना का समावेश किया और साहित्य को 'जन' से जोड़ा।

भारतेन्दु की रचनाधर्मिता में दोहरापन दिखता है। कविता जहाँ वे ब्रज भाषा में लिखते रहे, वहीं उन्होंने बाकी विधाओं में सफल हाथ खड़ी बोली में आजमाया। सही मायने में कहें तो भारतेंदु आधुनिक खड़ी बोली गद्य के उन्नायक हैं। भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा प्रधानत: ब्रज भाषा है। उन्होंने ब्रज भाषा के अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर उसके परिकृष्ट रूप को अपनाया। उनकी भाषा में जहाँ-तहाँ उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी जाते हैं।

उनके गद्य की भाषा सरल और व्यवहारिक है। मुहावरों का प्रयोग कुशलतापूर्वक हुआ है।

शैली

भारतेंदु जी के काव्य में निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं -

1. रीति कालीन रसपूर्ण अलंकार शैली-श्रृंगारिक कविताओं में,
2. भावात्मक शैली-भक्ति के पदों में,

3. व्यंग्यात्मक शैली–समाज–सुधार की रचनाओं में,
4. उद्‌बोधन शैली–देश–प्रेम की कविताओं में।

रस

भारतेंदु जी ने लगभग सभी रसों में कविता की है। शृंगार और शान्त रसों की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का भारतेंदु जी ने सुंदर वर्णन किया है। उनके काव्य में हास्य रस की भी उत्कृष्ट योजना मिलती है।

छन्द

भारतेंदु जी ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों को अपनाया है। उन्होंने केवल हिंदी के ही नहीं उर्दू, संस्कृत, बंगला भाषा के छंदों को भी स्थान दिया है। उनके काव्य में संस्कृत के वसंत तिलका, शार्दूल विक्रीड़ित, शालिनी आदि हिंदी के चौपाई, छप्पय, रोला, सोरठा, कुंडलियाँ, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि, बंगला के पयार तथा उर्दू के रेखता, गजल छंदों का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतेंदु जी कजली, ठुमरी, लावनी, मल्हार, चौती आदि लोक छंदों को भी व्यवहार में लाए हैं।

अलंकार

अलंकारों का प्रयोग भारतेंदु जी के काव्य में सहज रूप से हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और संदेह अलंकारों के प्रति भारतेंदु जी की अधिक रुचि है। शब्दालंकारों को भी स्थान मिला है। निम्न पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और अनुप्रास अलंकार की योजना स्पष्ट दिखाई देती हैरू

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहु सुहाए।

महत्त्वपूर्ण कार्य

नवीन साहित्यिक चेतना और स्वभाषा प्रेम का सूत्रपात

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे बहूमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी क्षेत्रों में उनकी देन अपूर्व है। वे हिंदी में नव जागरण का संदेश लेकर

अवतरित हुए। उन्होंने हिंदी के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भाव, भाषा और शैली में नवीनता तथा मौलिकता का समावेश करके उन्हें आधुनिक काल के अनुरूप बनाया। आधुनिक हिंदी के वे जन्मदाता माने जाते हैं। हिंदी के नाटकों का सूत्रपात भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

भारतेन्दु अपने समय के साहित्यिक नेता थे। उनसे कितने ही प्रतिभाशाली लेखकों को जन्म मिला। मातृ-भाषा की सेवा में उन्होंने अपना जीवन ही नहीं सम्पूर्ण धन भी अर्पित कर दिया। हिंदी भाषा की उन्नति उनका मूलमंत्र था –

निज भाषा उन्नति लहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को शूल।
विविध कला शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार।
सब देसन से लै करहू, भाषा माहि प्रचार।

1882 में शिक्षा आयोग (हन्टर कमीशन) के समक्ष अपनी गवाही में हिन्दी को न्यायालयों की भाषा बनाने की महत्ता पर उन्होने कहा–

यदि हिन्दी अदालती भाषा हो जाए, तो सम्मन पढ़वाने, के लिए दो-चार आने कौन देगा और साधारण-सी अर्जी लिखवाने के लिए कोई रुपया-आठ आने क्यों देगा। तब पढ़ने वालों को यह अवसर कहाँ मिलेगा कि गवाही के सम्मन को गिरफ्तारी का वारंट बता दें। सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही (भारत) ऐसा देश है, जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की। यदि आप दो सार्वजनिक नोटिस, एक उर्दू में, तथा एक हिंदी में, लिखकर भेज दें तो आपको आसानी से मालूम हो जाएगा कि प्रत्येक नोटिस को समझने वाले लोगों का अनुपात क्या है। जो सम्मन जिलाधीशों द्वारा जारी किये जाते हैं उनमें हिंदी का प्रयोग होने से रैयत और जमींदार को हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। साहूकार और व्यापारी अपना हिसाब-किताब हिंदी में रखते हैं। स्त्रियाँ हिंदी लिपि का प्रयोग करती हैं। पटवारी के कागजात हिंदी में लिखे जाते हैं और ग्रामों के अधिकतर स्कूल हिंदी में शिक्षा देते हैं।

इसी सन्दर्भ में 1868 ई में 'उर्दू का स्यापा' नाम से उन्होने एक व्यंग्य कविता लिखी–

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय।
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय।
बल्ला बिल्ला हाय हाय। रोये पीटें हाय हाय।
टाँग घसीटैं हाय हाय। सब छिन सोचौं हाय हाय।

डाढ़ी नोचौं हाय हाय। दुनिया उल्टी हाय हाय।
रोजी बिल्टी हाय हाय। सब मुखतारी हाय हाय।
किसने मारी हाय हाय। खबर नवीसी हाय हाय।
दाँत पीसी हाय हाय। एडिटर पोसी हाय हाय।
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय।
चरब-जुबानी हाय हाय। शोख बयानि हाय हाय।
फिर नहीं आनी हाय हाय।

अपनी इन्हीं कार्यों के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्याकाश के एक दैदीप्यमान नक्षत्र बन गए और उनका युग भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्र मैग्जीन, स्त्री बाला बोधिनी जैसे प्रकाशन उनके विचारशील और प्रगतिशील सम्पादकीय दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।

साम्राज्य-विरोधी चेतना तथा स्वदेश प्रेम का विकास

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होने हिन्दी साहित्य को और उसके साथ समाज को साम्राज्य-विरोधी दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दी। 1870 में जब कविवचनसुधा में उन्होने लॉर्ड मेयो को लक्ष्य करके 'लेवी प्राण लेवी' नामक लेख लिखा तब से हिन्दी साहित्य में एक नयी साम्राज्य-विरोधी चेतना का प्रसार आरम्भ हुआ। 6 जुलाई 1874 को कविवचनसुधा में लिखा कि जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतन्त्र हुआ। उसी प्रकार भारत भी स्वतन्त्रता लाभ कर सकता है। उन्होने तदीय समाज की स्थापना की जिसके सदस्य स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रतिज्ञा करते थे। भारतेन्दु ने विलायती कपड़ों के बहिष्कार की अपील करते हुए स्वदेशी का जो प्रतिज्ञा पत्र 23 मार्च, 1874 के 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित किया, वह समूचे हिंदी समाज का प्रतिज्ञा पत्र बन गया। उसमें भारतेंदु ने कहा था,

सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने ही साहित्य में जन भावनाओं और आकांक्षाओं को स्वर दिया था। पहली बार साहित्य में 'जन' का समावेश भारतेन्दु ने ही किया। उनके पहले काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का ही बोलबाला था। साहित्य पतनशील सामन्ती संस्कृति का पोषक बन गया था, पर भारतेन्दु ने साहित्य को जनता की गरीबी, पराधीनता, विदेशी शासकों के अमानवीय शोषण के चित्रण और उसके विरोध का माध्यम बना दिया। अपने नाटकों, कवित्त,

मुकरियों और प्रहसनों के माध्यम से उन्होंने अंग्रेजी राज पर कटाक्ष और प्रहार किए, जिसके चलते उन्हें अंग्रेजों का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतेंदु अंग्रेजों के शोषण तंत्र को भली-भांति समझते थे। अपनी पत्रिका कविवचनसुधा में उन्होंने लिखा था।

जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिंदुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

यही नहीं, 20वीं सदी की शुरुआत में दादाभाई नौरोजी ने धन के अपवहन यानी ड्रेन ऑफ वेल्थ के जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था, भारतेन्दु ने बहुत पहले ही शोषण के इस रूप को समझ लिया था। उन्होंने लिखा था।

अंग्रेजी राज सुखसाज सजे अति भारी, पर सब धन विदेश चलि जात ये ख्वारी।

अंग्रेज भारत का धन अपने यहाँ लेकर चले जाते हैं और यही देश की जनता की गरीबी और कष्टों का मूल कारण है, इस सच्चाई को भारतेंदु ने समझ लिया था। कविवचनसुधा में उन्होंने जनता का आह्वान किया था।

भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन-से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होने लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थान बिंदु है। भाषण का एक छोटा-सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल

में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है, वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंग्रेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया,

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ।

हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा, यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।

नामकरण

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का अंतर्विभाजन साहित्यिक विधा गद्य-पद्य के आधार पर मुख्य रूप से गद्य और काव्य रचना (पद्य) दो भागों में विभाजित किया है। पुनः इन दोनों उप विभागों के चार-चार प्रकरण किए हैं। प्रकरणों का पुनर्विभाजन उत्थानों में किया गया है। भारतेन्दु युग से गद्य के प्रकरण 2 के प्रथम उत्थान तथा काव्य रचना के प्रकरण के नई धारा (प्रथम उत्थान) को अभिहित किया है। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के महत्त्व को गद्य-पद्य दोनों में बराबर रूप से स्वीकारा है।

डॉ. नगेन्द्र को युग विशेष को व्यक्तिगत नाम देना रुचिकर नहीं लगा इसलिए उन्होंने लिखा है-"शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्ल जी का अनुगमन किया। कुछ लोगों ने आधुनिक काल के विकास के प्रथम दो चरणों को भारतेंदु युग और द्विवेदी युग कहना अधिक संगत समझा, किंतु, इन नामों की ग्राह्यता को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है।''

अंतिम वाक्य को संदर्भित करते हुए पाद टिप्पणी में लिखा है-

भारतेंदु-युग और द्विवेदी युग की परिकल्पना कर लेने पर युगों की बाढ़ आ गई। भारतीय हिंदी-परिषद्, प्रयाग से प्रकाशित 'हिंदी साहित्य' (तृतीय खंड) में उपन्यासों के संदर्भ में 'प्रेमचन्द युग' और नाटकों के संदर्भ में 'प्रसाद युग' की कल्पना की गई है। पता नहीं, समीक्षा के संदर्भ में शुक्ल युग क्यों नहीं लिखा गया? जितने संदर्भ उतने युग!"

डॉ. नगेंद्र भारतेंदु या द्विवेदी पर नाक-भौं चढ़ाते हैं तथा कहते हैं कि शुक्ल युग कहना औचित्यपूर्ण नहीं है। क्यों नहीं है क्या नई दिल्ली में दिवंगत प्रधानमंत्रियों के नाम पर स्थलों की क्या बाढ़ नहीं आ गई है? आधुनिक काल में विश्वविद्यालय का नाम स्थल के आधार न रखकर व्यक्ति विशेष के नाम पर नामकरण करने से कौन भी बाढ़ आ गई है? यथा, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, इंदिरा गांधी मुक्त विश्वविद्यालय, राजर्षि टंडन मुक्त विद्यालय, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, हेमवती नंदन बहुगुणा विश्वविद्यालय आदि। नगरों, सड़कों के नाम भी व्यक्तिगत रखे जाते हैं और वर्तमान में भी वही स्थिति है।

डॉ. नगेन्द्र इस युग को पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल) कहना श्रेयस्कर समझते हैं। नाम की कोई समस्या नहीं युग विशेष को कोई भी नाम दिया जा सकता है।

भारतेंदु-युग और राष्ट्रीय नवजागरण

अनेक समालोचक और हिंदी साहित्य के इतिहासकार 1850 ई. से 1900 ई. तक के काल को भारतेंदु-युग के नाम से अभिहित करते हैं। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी यही माना है, पर यह विचित्र बात प्रतीत होती है। 1850 ई. में भारतेंदु का जन्म होता है। साहित्यिक कृतिकार के रूप में उनकी रचनाओं का प्रकाशन 1868 ई. के बाद से आरंभ होता है। अत: 1850 ई. से भारतेंदु-युग का आरंभ मानना युकितसंगत प्रतीत नहीं होता। जन्म ग्रहण करते ही अपनी युग-निर्माणकारी प्रतिभा से उन्होंने नवयुग का निर्माण कर दिया, इस बात में कहीं-न-कहीं इतिहास लेखन के क्षेत्र में मौजूद अवतारवादी धारणाओं की प्रतिध्वनि मौजूद है। जब से भारतेंदु की रचनाओं का प्रकाशन आरंभ होता है, तब से भारतेंदु-युग का आरंभ मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। अत: 1868 ई. से 1900 ई. तक के काल को भारतेंदु-युग माना जा सकता है। इस दौर को भारतेंदु-युग नाम क्यों दिया गया है, इस प्रश्न पर सभी इतिहासकारों की दलीलें प्राय: एक जैसी हैं। यह कि भारतेंदु का व्यक्तित्व प्रभावशाली था, वे संपादक

और संगठनकर्त्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आस-पास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेंदु-युग की संज्ञा देना उचित है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेंदु हरिश्चंद्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे, वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे। प्रश्न यह है कि भारतेंदु को हिंदी-भाषी जातीयता के नवोत्थान का अग्रदूत कहा जाए या भारतीय नवोत्थान का अग्रदूत कहा जाए। भारतेंदु ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि तब तक हिंदी-भाषी जनसमूह पिछड़ा हुआ था और उसकी तुलना में बंगला-भाषी जातीयता अथवा मराठी-भाषी जातीयता काफी विकास हो चुका था। जातीय नवोत्थान की प्रेरणा भारतेंदु को बंगला आदि का साहित्य पढ़कर मिली थी। इसलिए भारतेंदु को इतने अतिरंजनापूर्ण ढंग से भारतीय नवोत्थान का अग्रदूत सिद्ध करने के बजाय अगर हम उन्हें हिंदी-भाषी जनसमूह की जातीय चेतना के नवोत्थान का अग्रदूत कहें तो ऐतिहासिक वास्तविकता के अधिक निकट होगा। भारत की अन्य भाषाओं में जातीय नवचेतना के अंकुर दिखाई देने लगे थे। सन् 1870 ई. में लेवी प्राण लेवी नामक अपने निबंध में भारतेंदु ने लिखा था-हाय-पश्चिमोत्तर देशवासी कब कायरपन छोड़ेंगे और कब इनकी उन्नति होगी और इनको परमेश्वर यह सभ्यता देगा जो हिंदुस्तान के और खंड के वासियों ने पाई है।

भारत की अन्य जातियों की तुलना में हिंदी-भाषी जाति (पश्चिमोत्तर देशवासी) के पिछड़ेपन के संबंध में भारतेंदु की उपर्युक्त टिप्पणी से भी यही पता चलता है। जातीय स्वत्व की पहचान और उसकी सम्मान-रक्षा के बोध से प्रेरित भारतेंदु का नवजागरणवादी आह्वान यह बतलाता है कि वह जातीय नवचेतना के उदघोषक थे। खड़ी बोली भाषा के माध्यम से साहित्य को मध्यकालीन पौराणिक परिवेश से बाहर निकालकर उसे आधुनिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न ही उन्हें युगांतकारी साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। तत्कालीन हिंदी-भाषी समाज को भाव, विचार और भाषा-तीनों दृष्टियों से उन्होंने जिस दिशा में अग्रसर किया, उसी दिशा में हिंदी-भाषी जनता ने विकास की अनेक मंजिलें पार कीं। यही कारण है कि भारतेंदु के व्यक्तित्व की छाप, उनके मनोभाव और विचार-जगत का प्रतिबिंब तत्कालीन अनेक कवियों और लेखकों की रचनाओं में बराबर मिलता रहा। अतः इस काल का नामकरण यदि भारतेंदु के नाम पर किया जाता है तो इसमें कोई अत्युकित नहीं होगी, बल्कि प्रतीकात्मक

रूप में भारतेंदु के निजी वैशिष्टय के माध्यम से पूरे युग को समझने की अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है।

भारतेंदु-युग के अंतर्गत जिन लेखकों और कवियों का कृतित्व समेटा जाता है उनमें प्रमुख ये हैं–

(1) श्री निवास दास (1851-1877)
(2) बालकृष्ण भट्ट (1844-1914)
(3) प्रताप नारायण मिश्र (1856-1894)
(4) राधाकृष्ण दास (1865-1807)
(5) बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन (1855-1923)
(6) तोता राम वर्मा (1847-1902)
(7) किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932)
(8) देवकीनंदन खत्री (1861-1913)

इन उपयुक्त नामों के अलावा राधाचरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, लज्जाराम शर्मा, श्रद्धाराम फुल्लौरी, स्वामी दयानंद, काशीनाथ, कार्तिक प्रसाद खत्री आदि भी उल्लेखनीय हैं।

भारतेंदुकालीन गध-साहित्य क्या, उस युग की संपूर्ण सृजन चेतना ही पूर्ववर्ती साहित्य से अलग है। हिंदी-भाषी जनसमूह के जातीय स्वत्व की पहचान और ब्रिटिश दासता से मुकित के लिए छटपटाती देशभकितपूर्ण आंतरिकता के इस नए संदर्भ में हिंदी का सर्वथा नया साहित्य लिखा जाने लगा। इसके अलावा हिंदी-भाषी क्षेत्र की सभी बोलियों के बीच खड़ी बोली जातीय भाषा के रूप में प्रतिषिठत हुई। अत: हिंदी के प्रचार-प्रसार और उसे समुचित स्थान दिलाने के संघर्ष की पृष्ठभूमि में नया आह्वान भी सुनाई पड़ने लगा। भारतेंदु ने ही सबसे पहले कहा–

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान कै, मिटत न हिय को सूल॥

निज भाषा की उन्नति का यह आह्वान क्या मात्रा एक साहित्य-सेवी की दृष्टि से था। मातृभाषा और जातीय भाषा के प्रति गहरे लगाव की ऐसी भावना इतनी प्रखरता से पहली बार मुखरित हुई। यही जातीय उत्थान का प्रथम लक्षण बनकर प्रकट हुआ। जातीय उत्थान की विकलता की यह भावना अन्य प्रश्नों पर भी उतनी ही तीव्र है, जितनी भाषा के प्रश्न पर। अत: जिस व्यापक फलक पर भारतेंदु का मूल्यांकन किया जाना चाहिए, वह है राष्ट्रीयता। स्वदेशी की भावना

और जातीय नवोत्थान की व्याकुलता भाषा और साहित्य की उन्नति तो उसका अंग मात्रा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है कि उनका भाषा संबंधी आंदोलन उनके स्वदेशी आंदोलन का अंग बन गया। भारतेंदु ने इसी स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात करने के लिए 23 मार्च 1874 की कवि वचन सुधा में एक प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित कराया, जो इस प्रकार है–

हम लोग सर्वांतर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिति तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण होने तक काम में लावेंगे, पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी विलायती कपड़ा न पहिरेंगे, हिंदुस्तान का ही बना कपड़ा पहिरेंगे। हम आशा रखते हैं कि इसको बहुत ही क्या प्रायः सब लोग स्वीकार करेंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चंद्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करेंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेंगे।

स्वदेशी के व्यवहार की यह गंभीर प्रतिज्ञा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। यह ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में जो स्वदेशी आंदोलन चला, वह अपने प्रारंभिक रूप में भारतेंदु के नेतृत्व में आरंभ हो चुका था।

भारतेंदु ने इस प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए नवशिक्षितों, व्यापारी वर्गों और साधारण जनता से व्यापक अपील की थी। इस पर काफी हस्ताक्षर भी हुए थे। इस प्रसंग में डॉ. रामविलास शर्मा ने स्वदेशी के व्यवहार की प्रतिज्ञा का ऐतिहासिक महत्त्व बतलाते हुए जो व्याख्या की है, वह भारतेंदु-युग का अनुशीलन करने वाले आज के बुद्धिजीवी समुदाय के लिए ध्यान देने योग्य है–

हिंदी-भाषी जनता इस बात पर गर्व कर सकती है कि उसके नवजागरण के वैतालिक हरिश्चंद्र ने चौबीस वर्ष की अवस्था में स्वदेशी के व्यवहार की यह गंभीर प्रतिज्ञा की थी। उस दिन तरुण हरिश्चंद्र ने न केवल हिंदी प्रदेश के लिए वरन समूचे भारत के लिए एक नए युग का द्वार खोल दिया था। उस दिन राष्ट्रीय स्वाधीनता के पावन उद्देश्य से हिंदी साहित्य का अटूट गठबंधन हो गया था। उस दिन हरिश्चंद्र की कलम से भारतीय जनता ने अंग्रेजी राज्य के नाश का वारंट लिख दिया था।

स्वदेशी उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए विदेशी कपड़ों और विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार के इस आंदोलन के मूल में कहीं-न-कहीं उभरते हुए

स्वदेशी पूंजीवाद के रास्ते को निर्विघ्न बनाने की भावना भी रही होगी। भारतेंदु तो चाहते थे कि विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प और टेक्नालाजी का भी देश की उन्नति के लिए देश में ही विकास हो। यहाँ तक कि देश के पूंजीपतियों का उन्होंने आह्वान किया था कि वे भारत में भी विलायत में प्रचलित मशीनें मंगवाएँ और स्वदेशी उद्योग का प्रसार कर विदेशी पूंजी के द्वारा हो रही लूट-खसोंट बंद करवाएँ। 9 मार्च 1874 को कवि वचन सुधा में उन्होंने लिखा था–

इसलिए अब जो-जो विद्वान और विचारी मनुष्य हों उनको उचित है कि अपने द्रव्य की वृद्धि के निमित्त जितने भाप के यंत्र मंगा सकें, मंगाएँ और यहाँ भी धातु आदि खान कई हैं उनका शोध करें।

इसके एक वर्ष पहले स्वदेशी पूंजीपति वर्ग की असमर्थता बतलाते हुए भारतेंदु यह लिख चुके थे कि सबको मिलकर इस चुनौती का सामना करना चाहिए। उनका कहना था, जब तक देश भर के व्यापारी इस विषय में उद्योग न करेंगे तब तक कार्य सिद्ध भली-भांति नहीं हो सकता जिस लिए केवल इतने ही से एतदेशीय वस्त्र आदि की वृद्धि होनी कठिन है और अंग्रेजों के समान वस्तु तैयार करना सबों की सहायता के बिना नहीं हो सकता।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शोषण बंद कराने का यह मूल मंत्र अपने आप में एक दूसरे पहलू से भी मूल्यवान है। वह यह कि भारतेंदु स्वदेशी पूंजीपति वर्ग के हितों के प्रति सहानुभूति रखते थे और उन्हीं हितों से जोड़कर देश की औधोगिक प्रगति का सपना संजो रहे थे। इस तरह उस समय अंकुर रूप में उभरते हुए स्वदेशी पूंजीपति वर्ग की भावभूमि पर भारतेंदु के साहित्य का विकास हुआ। अगर हम इसे समझेंगे, तभी हम भारतेंदु के व्यक्तित्व और कृतित्व में निहित विभिन्न अंतर्विरोधों को भी समझ सकते हैं। स्वदेशी पूंजीपति वर्ग ढुलमुल होता है। कभी वह साम्राज्यवाद से समझौता करता है और कभी-कभी अपने हितों की वजह से उससे लड़ता भी है। भारतेंदु की रचनाओं में ही नहीं, बल्कि भारतेंदु मंडल के तमाम लेखकों की रचनाओं में ब्रिटिश हुकूमत के प्रति आशा भरी दृष्टि से देखने की राजभकित का जो स्वर है और उसके साथ-साथ देशभकित की प्रखर भावना भी है–इस असंगति के मूल में यही स्वदेशी वर्ग का दृष्टिकोण है। प्राचीन भारत के अतीत के प्रति मोहासक्त दृष्टि की अनेक रचनाओं को देखकर आज यह प्रतीत होता है कि भारतेंदु मंडल के लेखक हिंदू पुनरुत्थानवाद के समर्थक थे। मुगलों के शासनकाल के मूल्यांकन के प्रश्न पर भारतेंदु मंडल के लेखकों ने भी उस पूरे दौर में हिंदू-मुसलिम धार्मिक विद्वेष के सांप्रदायिक आग्रह

को बल पहुँचाया है। पर दूसरी तरफ यह भी कहा है कि हिंदू या मुसलमान किसी भी सामंत, राजा-महाराजा अथवा रईस से कुछ भी आशा करना व्यर्थ है। इतना ही नहीं, बल्कि लेवी प्राणी लेवी नामक निबंध में भारतेंदु ने बनारस के ब्रिटिश भक्त रईसों को कठपुतली की तरह नाच नाचते हुए दिखाया। प्रेम जोगिनी में अमीरों को झूठा, निंदक और विश्वासघाती कहा गया है। भारत-दुर्दशा में वैतालिक कहता है, सामंतों से पराक्रम की आस लगाना व्यर्थ है। वे तो ब्रिटिश हुकूमत के दास बन जाने के बाद सोचने की सामर्थ्य भी खो बैठे हैं। विषस्व विषमैघधम नामक रचना में भारतेंदु ने बहुत ही उपयुक्त चुटकुले का इस्तेमाल किया है—कलकत्ता के प्रसिद्ध राजा अपूर्व कृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं तो उन्होंने उत्तर दिया जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइए वहां चलें। इस तरह भारतेंदु मंडल के लेखकों का सामंतों पर कहीं कोई भरोसा, पूर्ण न था। इतिहास को बदलने वाली क्रांतिकारी शक्ति जनता पर पूरा भरोसा, आस्था और दृढ़ निष्ठा के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। जैसे बलिया के अपने व्याख्यान में ही भारतेंदु ने साफ-साफ कहा, राजा-महाराजा पर कोई भरोसा न करो-तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो, कब तक अपने को जंगली हूस मूर्ख बोदे डरपोकने पुकरवाओगे। निरक्षर, अनपढ़ और अंधकार में डूबी जनता का आह्वान करते हुए भारतेंदु ने धर्म-निरपेक्ष और वर्ण-निरपेक्ष एकता की भी बात की, यह समय इन झगड़ों का नहीं, हिंदू, जैन, मुसलमान-सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊंचा हो, चाहे नीचा हो, सबका आदर कीजिए जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। उस युग की सीमा में ध्यान देने की बात है ब्रिटिश हुकूमत से निबटने के लिए विभिन्न धर्मावलंबियों की एकता की पुकार।

भारतेंदु मंडल के सभी लेखक और पत्रकार न तो नासितक थे न और धर्म को अफीम समझने वाले वैज्ञानिक चिंतक, पर अधिकांश ने पुरोहितों के रूढ़ और धर्म के नाम पर प्रचलित गलत रिवाजों का विरोध किया। दूसरी तरफ इन्हीं लेखकों ने ईश्वर-भकित और वैष्णव उपासना-पद्धति का समर्थन किया। भारतेंदु द्वारा गठित तदीय समाज नाम की संस्था का प्रचारक मंत्र था-निश्चय रखें कि परमेश्वर को पाने का पक्ष केवल प्रेम है।

विधवा विवाह, बाल विवाह, सती प्रथा, विदेश गमन, जातिगत भेदभाव, स्त्री-शिक्षा आदि अनेक प्रश्नों पर भारतेंदु और उनके सहयोगी सुधारवादी और उदार विचारों को मानने वाले थे, पर वैष्णव भकित की प्रेमपिपासा को भी

बरकरार रखे हुए थे। इस तरह हम देखते हैं कि प्रायः सभी प्रश्नों पर भारतेंदु मंडल के लेखकों के कृतित्व में वे असंगतियाँ मौजूद हैं, जो उस युग के स्वदेशी पूंजीपति वर्ग की भी असंगतियां थीं। इन असंगतियों पर परदा डालने के लिए इतिहास में एक शब्द चलता है समन्वय। आचार्य शुक्ल इन असंगतियों के प्रति इतिहासकार के नाते सचेत हैं। भाववादी इतिहास-दृष्टि की अपनी सीमा के कारण वे भी समन्वय की ही बात करते हैं–

अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पदमाकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भकित में झूमते हुए नई भक्तमाल गूंथते दिखाई देते, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हंसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है।

ध्यान देने की बात है कि परस्पर-विरोधी असंगतियों के विधमान होने को आचार्य शुक्ल प्राचीन और नवीन का सामंजस्य कहते हैं, पर शिवदान सिंह चौहान इन असंगतियों को भारतेंदु की व्यक्तिगत दुर्बलता मानकर उनका ऐतिहासिक मूल्यांकन करना चाहते हैं।

इस संबंध में डॉ. रामविलास शर्मा का ही निष्कर्ष सही है। उनके विचार से भारतेंदु की असंगतियाँ उनके युग की सीमाओं से पैदा नहीं हुई। वे उनके वर्ग की असंगतियाँ हैं, उस काजल की कोठरी की स्याही हैं, जिसमें भारतेंदु का जन्म हुआ था। यह ध्यान रखने की बात है कि इन असंगतियों के मूल में पूरा-का-पूरा स्वदेशी पूंजीपति वर्ग है, जिसके अंतर्गत राजनेता, विद्वान और रईस लोग भी सम्मिलित हैं।

भारतेंदु युग के साथ जिस नवजागरण का अभ्युदय होता है, उसके प्रेरक कारणों की छानबीन करना आवश्यक है। इस संबंध में हिंदी के साहित्येतिहास ग्रंथों में गंभीर मतभेद है। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि समाज सुधार की भावना से लेकर ब्रिटिश हुकूमत के विरोध के मूल में निहित राष्ट्रीयाता की भावना तक सब कुछ पश्चिम की नइ सभ्यता, ज्ञान-विधान और नई शिक्षा से संपर्क के कारण ही एक नई प्रवृत्ति का रूप ले सकी थी। जातीय स्वत्व का बोध, राष्ट्रीय संपदा और रम शक्ति के शोषण की पहचान, विदेशी हुकूमत के जुए के नीचे पिसती हुई भारतीय जनता के उत्पीड़न का अभिज्ञान-क्या पश्चिम

की नई सभ्यता के संपर्क से उत्पन्न हुआ था? यह विचित्र बात है कि जो लोग शोषण और उत्पीड़न कर रहे थे, उन्हीं लोगों को हम अपनी जागृति का प्रेरक मान बैठे हैं। इतिहास को वस्तुनिष्ठ ढंग से न देखने के कारण ही ऐसी भ्रांतियाँ होती हैं। कार्य-कारण की शृंखला की कडियाँ और एक-दूसरे से टकराती ऐतिहासिक शक्तियों के अंतर्विरोध को ठीक से न समझने का मूल कारण है इतिइास के प्रति भाववादी अथवा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण। इतिहास के किसी विशेष कालखंड में, जो द्वंद्व मौजूद होता है, उसे देखने और वस्तुगत ढंग से उसका विश्लेषण करने से ऐसी भ्रांतियाँ नहीं होगी।

कुछ इतिहासकार और समालोचक भारतेंदुकालीन नवजागरण की पृष्ठभूमि में 1857 की जनक्रांति को नहीं देखते, बल्कि 1857 में बंबई, कलकत्ता और मद्रास में स्थापित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के विश्वविधालय, कंपनी राज्य में फैलाए गए तथाकथित ज्ञान-विज्ञान और अंततः भारत-यूरोप संपर्क को ही नवजागरण का मूल प्रेरक मानते हैं। भारत में राष्ट्रीयता के उदभव के सवाल पर अंग्रेज जो बड़े-बड़े दावे करते हैं, उन्हीं दावों के बहकावे में कुछ भारतीय बुद्धिजीवी भी आ गए हैं। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय और डॉ. श्रीकृष्ण लाल दोनों ने यूरोप के संपर्क से, खास तौर पर ब्रिटिश जाति द्वारा फैलाई गई नवचेतना की देन के रूप में हिंदी नवजागरण को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहासकारों में भी कुछ अंग्रेज भक्त हैं, जो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के उदभव के मूल में अंग्रेज विद्वानों द्वारा लिखित ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को ही प्रमुख रूप से देखा करते हैं। संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में दिनकर जी ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए यह कहा कि वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की गोद में हुआ है। सवाल यह है कि क्या भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन इसलिए आरंभ हुआ कि यहाँ के शिक्षित जन समुदाय को उसके शासकों ने बर्क, मिल और मैकाले की रचनाओं को पढ़ना और ग्लैडस्टन तथा ब्राइट जैसे धुरंधर वक्ताओं की संसदीय भाषण-शैली में रस लेना सिखा दिया था? खुद अंग्रेजों ने और उनके भक्तों ने तो खास तौर पर यही कहानी गढ़ी है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से देखा जाए तो साफ पता चलता है कि भारत में स्वाधीनता की भावना यहाँ की अपनी सामाजिक परिस्थितियों से पैदा हुई। वह ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की परिस्थितियों और उनकी शोषण की व्यवस्था से उत्पन्न हुई। रजनी पामदत्त ने इस प्रसंग में ठीक ही लिखा है कि हमारा स्वाधीनता आंदोलन उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों

से पैदा हुआ जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हो गई थीं। वह इस कारण पैदा हुआ कि भारत में पूंजीपति वर्ग जन्म ले चुका था और शिक्षा की शैली की जैसी भी व्यवस्था होती, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व के साथ उसका टकराव अवश्य ही होता।

जब मैकाले ने भारत की सदियों से चली आ रही पुरानी शिक्षा व्यवस्था नष्ट कर नए ढंग की साम्राज्यवादी अंग्रेजी शिक्षा शुरुआत की तो उसका लक्ष्य भारत की जनता में राष्ट्रीय भावना पैदा करना न था, बल्कि उसकी जड़ें खोदना था। रजनी पामदत्त के शब्दों में कहें तो कहा जा सकता है कि, यह साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था में निहित अंतर्विरोधों का परिणाम था। शिक्षा की जो पद्धति साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के लिए जारी की गई थी, उसी ने भारत के लोगों के लिए इंग्लैंड के जनवादी जन-आंदोलनों और जन संघर्षों से, मिल्टन, शैली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया। इंग्लैंड की यह महान जनवादी धारा उसी प्रकार की निरंकुशता से लड़ रही थी, जिस प्रकार की निरंकुशता भारत में कायम थी। विचित्र बात यह है कि भारतेंदु की विचारधारा नामक अपनी पुस्तक में डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने राष्ट्रीय भावना के नवोत्थान का सारा श्रेय अंग्रेज शासकों को दिया है।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक वर्ग की प्रशसित में उन्होंने लिखा, उसके बाद 1833 तक बाह्य और आंतरिक शांति के फलस्वरूप शिक्षा का, प्रधानत: ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से, खूब प्रचार हुआ। इन नवीन परिस्थितियों का देश के जीवन पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। साथ ही नवीन शासकों ने भी भारतवासियों के प्रति अपना नैतिक उत्तरदायित्व निभाने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं, बल्कि डॉ. वार्ष्णेय यह भी मानते हैं कि, 1833 तक देश में शांति और व्यवस्था के फलस्वरूप नवीन शक्तियों का पूर्ण रूप से प्रस्फुटन हुआ। भारतेंदुकालीन सांस्कृतिक नवजागरण के मूल में अंग्रेज शासकों द्वारा नैतिक उत्तरदायित्व की भावना से किए गए उदार कार्य, शांति, सुव्यवस्था आदि की पोल खोलते हुए खुद लार्ड मैटकाफ गवर्नर जनरल की हैसियत से 1835-1836 के पहले ही यह रिपोर्ट भेज चुके थे, पूरा भारत हर घड़ी यही मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाए। हमारे नाश पर हर जगह लोग खुशियाँ मनाएंगे या कम-से-कम सोचते हैं कि वे खुशियाँ मनाएंगे और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो उस घड़ी को नजदीक लाने मे अपनी पूरी ताकत लगा देंगे।

अंग्रेज गवर्नर जनरल हिंदुस्तान को जनता के जातीय नवोत्थान और क्रांतिकारी प्रतिरोध से डरा हुआ था। इससे पता चलता है कि हमारे देश में राष्ट्रीय भावना का उभार कब और क्यों उत्पन्न हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेंदुकालीन नवजागरण की व्याख्या इसी पृष्ठभूमि में की है, हिंदुस्तान की राष्ट्रीय चेतना सीधे अंग्रेज डाकुओं के कारनामों का विरोध करके बढ़ी। इसलिए हिंदुस्तान की राष्ट्रीय भावनाओं का तमाम नया साहित्य अंग्रेजी राज्य का विरोधी साहित्य है। अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने भारतीय जनता को गुलामी की शिक्षा दी, भरसक उसके राष्ट्रीय सम्मान और उसकी प्रतिरोध भावना को कुचलने की कोशिश की। इसके बावजूद जनता के समर्थक लेखक देश की संस्कृति की रक्षा और विकास के लिए आगे बढ़े।

भारतेंदु ने अंग्रेज हाकिमों की खुशामद करने वाले सज्जनों की खिल्ली उड़ाने के उददेश्य से ऐसे स्रोतों की रचना की जो कंठस्थ करने लायक थे। ऐसे ही एक स्रोत में अंग्रेजों का विलक्षण नख-शिख वर्णन है—चुंगी और पुलिस तुम्हारी दोनों भुजा हैं, अमले तुम्हारे नख हैं, अंधेर तुम्हारा पृष्ठ है और आमदनी तुम्हारा हृदय है, अतएवँ हे अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं। खजाना तुम्हारा पेट है, लालच तुम्हारी क्षुधा है, सेना तुम्हारा चरण है, खेताब तुम्हारा प्रसाद है, अतएवँ हे विराट रूप अंग्रेज! हम तुमको प्रणाम करते हैं।

और अगर ऐसा भयंकर राक्षस वपुधारी अंग्रेज हमारे पवित्र घर में व्यभिचारी के रूप में घुस आए तो देशवासियों को क्या करना चाहिए? इस संबंध में भी भारतेंदु का आह्वान बहुत स्पष्ट और खरा है— हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्यभिचार करने आवे तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शकित होगी उसका सत्यानाश करोगे उसी तरह इस समय जो-जो बातें तुम्हारे उन्नति पथ का काँटा हों उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ-दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बहार न निकाले जाएँगे, दरिद्र न हो जाएँगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जाएँगे तब तक कोई देश न सुधरेगा।

विदेशी आततायियों के विरुद्ध मुकित संघर्ष का आह्वान करते हुए कैसा घरेलू रूपक और कितना सटीक उत्पीड़नकारी चित्र खींचा गया है। फिर भी शिवदान सिंह चौहान का आरोप है कि उर्दू लेखकों की तुलना में भारतेंदु-युग के लेखकों में ऐसी कोई व्यापक राष्ट्रीय भावना नहीं मिलती। अपने अतीत के

प्रति इस प्रकार के निषेधवादी आग्रह से इतिहास नहीं लिखा जा सकता और न वस्तुपरक मूल्यांकन ही संभव है।

भारतेंदुकालीन जातीय जनवजागरण के चरित्र का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस संबंध में काफी मतभेद की गुंजाइश है और एक हद तक इस विषय पर गंभीर वाद-विवाद हुए भी हैं। इसे नवजागरण कहा जाए अथवा पुनरुत्थान, नामकरण की पदावली की ओट में ही यह वैचारिक संघर्ष छिपा हुआ है। श्री रामधारी सिंह दिनकर भारतेंदु के समय से लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तक के काल को हिंदी का पुनरुत्थानवादी युग कहते हैं। पुनरुत्थान का मूल तत्त्व है भारत के अतीत गौरव का आख्यान, भारत के प्राचीन भाववादी अथवा अध्यात्मकवादी दर्शन के बल पर नवयुग की पुनर्रचना, आर्य संस्कृति के शुद्धतावादी आग्रहों से नए युग की भाव-संवेदना का विकास अर्थात् हिंदू पुनरुत्थानवाद। इसी अर्थ में दिनकर जी भारतेंदु को भी पुनरुत्थानवादी मानते हैं। उनकी मान्यता है– हिंदी में पुनरुत्थान के भाव भारतेंदु तथा उनके समकालीन कवियों के साथ ही प्रकट होने लगे थे और तभी से हिंदी-भाषी जनता के बीच एक नई रुचि भी उदित होने लगी थी और इस पुनरुत्थान के नेता के रूप में दिनकर जी ने स्वामी दयानंद को प्रतिष्ठित किया है।

प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि भारतेंदु और स्वामी दयानंद लगभग समकालीन थे। भारतेंदु का लेखन 1868 ई. से आरंभ होता है और 1884 ई. में उनका देहावसान होता है। एक आर्यसमाजी विचारक के रूप में स्वामी दयानंद का सार्वजनिक व्याख्यान और परिपक्व लेखन 1863 ई. से आरंभ होता है और देहत्याग 1883 ई. में होता है। भारतेंदु की पत्रिका के संपादक मंडल में एक नाम स्वामी दयानंद का भी मुद्रित रहता था। इस समकालीनता और सामीप्य संबंध के बावजूद दोनों की विचारधाराओं के अलग-अलग वैशिष्टय की पहचान न होने के कारण भ्रांति होना स्वाभाविक है।

इधर अनेक शोधग्रंथों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आरंभ हुए हिंदी नवजागरण की अनेक प्रकार की व्याख्याएँ हुई हैं। इन व्याख्याओं में एक धारा उन शोधार्थियों की है, जो नवजागरण के बजाय पुनर्जागरण कहना अधिक पसंद करते हैं और इस पुनर्जागरण के नेता के रूप में स्वामी दयानंद सरस्वती को प्रतिषिठत किया जाता है। यह भी कहा जा रहा है कि हिंदी-भाषी क्षेत्र में यूरोपीय ढंग के रेनांसा की शुरुआत आर्य समाज के दर्शन और उसके सामाजिक-धार्मिक आंदोलन से हुई। इसी प्रतिज्ञा की सिद्धि डॉ. चंद्रभानु सीताराम सोनवर्ण के

शोधग्रंथ हिंदी गद्य साहित्य में दिखाई देती है। यह ठीक है कि हिंदी-भाषी जनसमुदाय पर 1862 ई. के बाद से स्वामी दयानंद के व्याख्यानों का बहुत प्रभाव पड़ा है। 1875 ई. में संगठित रूप में चलाए गए आर्य समाज आंदोलन के प्रभाव से समाज की कुरीतियों और सड़े हुए रिवाजों को नई दृष्टि से देखने की प्रेरणा मिली, राष्ट्रीय मुकित और स्वाधीनता की भावना बलवती हुई, पर यह मान लेना कि इस नवजागरण का मूल प्रेरक आर्य समाज था, इतिहास के साथ अनाचार होगा। अगर हम आर्य समाज और स्वामी दयानंद सरस्वती की उपेक्षा कर तत्कालीन साहितियक इतिहास लिखने का प्रयत्न करें तो यह भी इतिहास-विरोधी दृष्टिकोण होगा। हिंदी साहित्य–उनका उदभव और विकास नामक अपने इतिहास ग्रंथ में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी काफी हद तक इस प्रसंग में सचेत और वस्तुनिष्ठ हैं। उनका कहना है कि 1857 के बाद आर्य समाज ने अपने युगांतकारी नेता महर्षि दयानंद के नेतृत्व में अनेक समस्याओं पर उग्र विवाद का आरंभ कर दिया। उन दिनों शास्त्रर्थों की धूम मच गई। उत्तर-प्रत्युत्तर से, कटाक्षों और व्यंग्यों से सामयिक पत्र भरे रहते थे और हिंदी का भावी गद्य नवीन शक्तियों से सुसज्जित हो रहा था। इन वाद-विवादों ने भाषा को बहुत समृद्ध किया है और प्रौढ़ता प्रदान करने में बड़ी सहायता पहुंचाई। ध्यान देने की बात है कि नवजागरण के धार्मिक और सामाजिक वाहन के रूप में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ब्रह्म समाज, सनातन धर्म आदि संगठनों की भूमिका को भी दिखाने का प्रयत्न किया है। पंजाब में नवीनचंद्र राय ब्रह्म समाज के हिंदी प्रचारक की हैसियत से और श्रद्धाराम फुल्लौरी सनातन धर्म के समर्थक के रूप में प्राचीन संस्कृति की जो नई व्याख्या कर रहे थे, उसे भी कम करके न देखा जाए, यह आग्रह काफी हद तक वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास लिखने में सहायक हो सकता है।

नवजागरण की ऐतिहासिक व्याख्याओं के कुछ ऐसे प्रवक्ता हैं, जो 1857 के गदर अथवा भारत के प्रथम स्वाधीनता आंदोलन की उपेक्षा करते हैं। इससे एक भटकाव तो यह होता है कि कुछ लोग भारत-यूरोप संपर्क की शब्दावली की आड़ में अंग्रेजों को ही अपने नवजागरण का प्रेरक मान बैठते हैं। दूसरा यह कि धार्मिक आंदोलनों अथवा आर्य समाज जैसे संगठन को नवजागरण का वाहक बतलाने की कोशिश की जाती है। भारतेंदुकालीन हिंदी नवजागरण सन 1857 के गदर के प्रभाव से उत्पन्न हुआ। इस नवजागरण की अनेक धाराएँ हैं, जिनमें एक हिंदू पुनरुत्थानवाद अथवा वैदिक एकेश्वरवाद से आवृत्त तथाकथित आर्य संस्कृति के आग्रह के लिए खंडन-मंडन पर आधारित आर्य समाजी आंदोलन भी है। दूसरी

धारा वैष्णव प्रेमभकित और नवजात पूंजीवादी उदारतावाद की है। ये दो प्रमुख धाराएँ ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण हैं, चूंकि इन दोनों की टकराहट और संघर्ष से ही हिंदी नवजागरण का द्वंद्वपूर्ण विकास होता है।

यह आकसिमक नहीं है कि स्वामी दयानंद और उनके समर्थक अवतारवाद का विरोध करने की ओट में तुलसी के रामचरितमानस का पठन-पाठन निषिद्ध करते हैं, जबकि भारतेंदु मंडल के प्राय: सभी लेखक सूर-तुलसी से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। हिंदी की जातीय संस्कृति की उपलब्धियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण आर्य समाज के पुनरुत्थानवादी आंदोलन की सीमा का बोध कराता है। पुनरुत्थान की यह ऐसी वैचारिक दृष्टि है, जो सुदूर अतीत अर्थात् वैदिक संस्कृति को पुनर्जीवित करना चाहती है, पर उसके बाद के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न युगों की उथल-पुथल को पूरी तरह नकारना चाहती है। इसे ही आजकल मूल तत्त्ववाद या फंडोमेंटलिज्म की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। डॉ. चंद्रभानु सीताराम सोनवणे ने अपने शोधग्रंथ में लिखा है कि स्वामी दयानंद ने अवतारवाद, जातिवाद आदि की अवैदिक विचारधारा के कारण तुलसीदास कृत भाषा रामायण आदि ग्रंथों को भी कपोलकलिपत मिथ्या ग्रंथ मानकर अपाठय माना है। यह विचित्र बात है कि वैदिक कल्पना के समाज की शुद्धता की रक्षा के लिए अथवा आज के समाज को वेदानुकूल बनाने के लिए तुलसी के रामचरितमानस को अपाठय बताना हमारे नवजागरण के लिए कैसे सहायक हो सकता था।

हिंदी को स्तरीय स्वरूप देने की जो प्रक्रिया तत्कालीन भारतेंदु युगीन साहित्य में चल रही थी, उसमें हिंदी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों के शब्द भंडार और हिंदी की जातीय सांस्कृतिक निधियों से बहुत कुछ ग्रहण करने का रुझान स्पष्ट था। पर आर्य भाषा हिंदी के नाम पर दयानंद सरवती और आर्य समाज के तमाम लेखक और सुधारक भाषा का जो, जातीय आदर्श रख रहे थे, उसमें हिंदी क्षेत्र की बोलियों के शब्द भंडार, लोक साहित्य, ग्रामगीत तथा जातीय सांस्कृतिक विरासत की विविधताओं का निषेध था। आर्य भाषा हिंदी की तत्समप्रधान शुद्धता का आग्रह आर्य समाज की ओर से आया था, जबकि हिंदी-उर्दू-भाषियों की एक जातीयता के विकास को ध्यान में रखकर भारतेंदु-युग के अधिकांश लेखकों ने जनप्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों का न तो बहिष्कार किया और न उदू में पढ़ना-लिखना ही बंद किया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि भारतेंदु-युग के सभी लेखक हिंदी नाटक और रंगमंच के विकास से अनेक प्रकार से जुड़े हुए थे। यहाँ तक कि प्रहसन

का इस्तेमाल कर धार्मिक आडंबरों, नौकरशाहों, ब्रिटिश भक्तों, सामंतों और अंग्रेजों पर व्यंग्य बाण छोड़े गए हैं, जनता को राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से शिक्षित करने के लिए नाटक को एक जीवंत साहित्यिक विधा बनाने का भरपूर प्रयत्न हुआ है। स्वामी दयानंद सरस्वती नाटक मात्र से ही चिढ़ते दिखाई पड़ते हैं। आर्य समाज के मुखपत्र के संपादक को नाटक छापने से मना करते हुए उन्होंने लिखा, तुम समाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है। यह आर्य समाज है, भड़ुआ समाज नहीं। जो तुम नाटक का विषय छापते हो, ऐसा करना भड़ुआपन है।

भारतेंदुकालीन हिंदी नवजागरण के मूलतत्त्व हैं–सामंत-विरोधी और साम्राज्य-विरोधी दृष्टि, जनसंस्कृति से लगाव, प्रेमभक्ति और उदारतावाद, स्वदेशप्रेम और स्वदेशी का आंदोलन, साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र समझकर जनजीवन के सान्निध्य में साहित्य रचना, विज्ञान, शिल्प और उद्योग-धंधों के विकास से देश की प्रगति का स्वप्न तथा अध्यात्म और रहस्यवाद का विरोध। भारतेंदु-मंडल के लेखकों के इन आदर्शों से आर्य समाज अनेक प्रश्नों पर गंभीर रूप से टकराता है। इसीलिए भारतेंदु ने स्वामी दयानंद की निंदा करते हुए दूषण मालिका कविता लिखी। स्वग में विचारसभा का अधिवेशन नामक निबंध में स्वामी दयानंद और उनके अंधभक्तों के विज्ञान विरोधी अतीतोन्मुख दृष्टिकोण पर कैसा जोरदार व्यंग्य है, धन्य दयानंद, जिसने वेद में रेल, डाक, तार, कमेटी, कचहरी आदि दिखाकर आर्यों की कटती हुई नाक बचा ली।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में जो नतीजा निकलता है, वह स्पष्ट है। भारतेंदुकालीन नवजागरण हिंदू पुनरुत्थानवाद का विरोध करता है, सामंतों और उनकी संस्कृति के भरोसे औपनिवेशिक शासन से मुक्ति की आशा छोड़ने की सीख देता है और जनसंस्कृति के जीवंत उपादानों से नई जातीय संस्कृति को सुसजिजत करने की प्रेरणा देता है।

काल सीमांकन

नाम से अधिक इतिहासकारों ने काल सीमा में मतभेद स्थापित किए है–

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के रचना काल को ध्यान में रखते संवत 1925-1950 विक्रमी की अवधि नई धारा अथवा प्रथम उत्थान की संज्ञा दी है तथा इस काल को हरिश्चन्द्र तथा

उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्व से समृद्ध माना है, किंतु शुक्ल जी द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य इतिहासकारों का वैमत्य है।

2. मिश्रबंधु-संवत् 1926-1945 वि. तक।
3. डॉ. राम कुमार वर्मा-संवत 1927-1957 वि. तक।
4. डॉ. केशरी नारायण शुक्ल-संवत् 1922-1957 वि. तक।
5. डॉ. नाम विलास शर्मा-संवत 1925-1957 वि. तक।
6. डॉ. नगेन्द्र-सन् 1868 (1925 वि.)-1900 ई. तक।

इतिहासकारों ने भारतेन्द्र युग का प्रारंभ संवत 1922-1927 वि. तक माना है। समाप्ति संवत 1945-1957 वि. तक माना है। मेरी दृष्टि से भारतेंदु युग संवत 1925-1957 वि. तक मानना श्रेयस्कर है।

गद्य साहित्य का विकास

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आस-पास हुआ। इस विकास में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आने वाली खडी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं।

आधुनिक खडी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा, जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और

हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं- चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 मे प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया हैं, जिसमे संपादको और देश सुधारको पर व्यंग्य किया गया हैं। कई नाटको में मुख्य कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता हैं।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बडे समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों मे नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। अब कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। उन्होंने सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियाँ खूब लोकप्रिय हुई। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा

उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाटय पद्यतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसांई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्र वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएँ एक दूसरे से मिल रही है।

काल सीमांकन

नाम से अधिक इतिहासकारों ने काल सीमा में मतभेद स्थापित किए है–

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850–1885) के रचना काल को ध्यान में रखते संवत 1925–1950 विक्रमी की अवधि नई धारा अथवा प्रथम उत्थान की संज्ञा दी है तथा इस काल को हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्व से समृद्ध माना है, किंतु शुक्ल जी द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य इतिहासकारों का वैमत्य है।
2. मिश्रबंधु–संवत् 1926–1945 वि. तक।
3. डॉ. राम कुमार वर्मा–संवत 1927–1957 वि. तक।
4. डॉ. केशरी नारायण शुक्ल–संवत् 1922–1957 वि. तक।
5. डॉ. नाम विलास शर्मा–संवत 1925–1957 वि. तक।
6. डॉ. नगेन्द्र–सन् 1868 (1925 वि.)–1900 ई. तक।

इतिहासकारों ने भारतेन्द्र युग का प्रारंभ संवत 1922–1927 वि. तक माना है। समाप्ति संवत 1945–1957 वि. तक माना है। मेरी दृष्टि से भारतेंदु युग संवत 1925–1957 वि. तक मानना श्रेयस्कर है।

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(1) विद्यासुन्दर (1868),
(2) रत्नावली (1868),
(3) पाखण्ड विखंडन (1872),
(4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),
(5) धनंजय विजय (1873),
(6) प्रेम जोगिनी, (1874),

(7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875),
(8) मुद्राराक्षस (1875),
(9) कर्पूर मंजरी (1876),
(10) विषस्य विषमोषधम् (1876),
(11) श्री चन्द्रावली (1875),
(12) भारत-दुर्दशा (1876),
(13) भारत जननी (1877)
(14) नीलदेवी (1880),
(15) दुर्लभ-बन्धु (1880),
(16) अन्धेर नगरी (1881),
(17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृश्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

'चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा श्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया, बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों

में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धारा—इसकी तीन उपधाराएँ—(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा—ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा—भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी

नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा–रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु–युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है, जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा–राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश

की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आँखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी बाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि

से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

भारतेन्दु युग में निबंध लेखन

भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही है। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जीके निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', सरयू पार की यात्रा'–विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'–व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्रोत', कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे–वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएँ इनमें भी हैं, जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन, कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'–वर्णनात्मक, 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा

माधुर्य', 'खटका'–भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क' और 'विश्वास'–विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी–सभी विषयों पर आपने लिखा। जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्रका नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्रा निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धयाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमघन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साधारण समाज तक पहुंचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते, बल्कि शब्दों की जड़ाई करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं, जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियां। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', 'त्तु-वर्णन उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बावमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवसम्भू' का

चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और नागरिक होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। राधाचरण गोस्वामी को भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्रा' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते के पूंछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं—निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धियाँ, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है—'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) एक अनोखा स्वप्न (बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्रा (राधाप्रसाद गोस्वामी)—इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

भारतेन्दु युगीन प्रतिनिधि रचनाकार

भारतेन्दु युग के मूर्धन्य रचनाकार भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अपने सहयोगियों का एक संगठन बनाया था। जिसे 'भारतेंदु मंडल' के नाम से जाना जाता है, इस मंडल में अनेक प्रमुख रचनाकार थे। इनके अलावा कुछ अन्य गौण रचनाकारों का योगदान भारतेन्दु युग को प्राप्त था।

पंडित प्रताप नारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख लेखक, कवि और पत्रकार थे। वह भारतेंदु निर्मित एवं प्रेरित हिंदी लेखकों की सेना के महारथी, उनके आदर्शो के अनुगामी और आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माणक्रम में उनके सहयोगी थे। भारतेंदु पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी, वह अपने आप को उनका शिष्य कहते तथा देवता की भाँति उनका स्मरण करते थे। भारतेंदु जैसी

रचनाशैली, विषयवस्तु और भाषागत विशेषताओं के कारण मिश्र जी 'प्रति-भारतेंदु' और 'द्वितीय हरिश्चंद्र' कहे जाने लगे थे।

व्यक्तित्व

प्रताप नारायण मिश्र प्रतिभा सम्पन्न निबंधकार थे, जिनमें रचना क्षमता की अद्वितीयता विद्यमान थी। किसी भी सामान्य से सामान्य विषय पर निबंध लिख देना इनके काफी सहज कार्य था। लेखन कला में भारतेंदु हरिश्चन्द्र को अपना आदर्श माना है। फिर भी मिश्र की शैली में भारतेंदु की शैली से अत्यधिक भिन्नता परिलक्षित होती है। ये विनोदी स्वभाव के थे। वाग्वैग्ध्य इनकी बाणी की प्रमुख विशेषता थी।

कृतित्व

मिश्र जी ने अनेक निबंध लिखे जिनमें प्रमुख निबंध-'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? 'मूंछ', 'भौं', 'दांत', 'पेट' आदि शारीरिक अंगों पर लिखे गए निबंध। 'ट', 'त' जैसे वर्णमाला के अक्षरों पर लिखे गए निबंध। 'बेगार', 'रिश्वत', 'देशोन्नति', 'बाल-शिक्षा', 'धर्म और मत', 'उन्नति की धूम', 'गोरक्षा', 'बाल विवाह', 'विलायत यात्रा', 'अपव्यय' आदि विषयों से संबंधित विचार प्रधान निबंध। 'न्याय', 'ममता', 'सत्य', 'स्वतन्त्रता' आदि वैचारिक निबंध। 'घूरे क लत्ता बिनै', 'कनातन का डौल बांधै', 'समझदार की मौत है', 'बात', 'मनोयोग', 'वृद्ध', आदि कहावतों लोकोक्तियों, सूक्तियों को शीर्षक बनाकर लिखे गए निबंध।

नाटक

'कलि कौतुक रूपक', 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर', 'गौ संकट', 'जुवारी खुवारी'।

साहित्यिक विशेषताएँ

किसी भी सामान्य से सामान्य विषय को शीर्षक बना कर निबंध लिख देना मिश्र की प्रमुख विशेषताएँ थी। विचार प्रधान विषयों का प्रतिपादन अपेक्षाकृत संयमित ढंग से किया है अन्यथा उनका विनोदी स्वभाव ही दृष्टिगोचर होता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता पाठकों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाना है। उस

स्तर पर वे अद्वितीय हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव सुधारात्मक रहा है। रूढ़ियों का उन्होंने कहीं समर्थन नहीं किया है, अपितु उनका विरोध किया है। निबंधों में इनका सच्चा देशभक्त, समाज सुधारक एवं हिंदी प्रेमी रूप ही परिलक्षित होता है। उन्होंने भारतेंदु के आदर्श को अपना आदर्श बनाया तथा आजीवन इन्हीं को प्रशस्त करने में संलग्न रहे।

मिश्र के निबंधों में उनकी स्वच्छंदता, आत्म व्यंजकता, हास्यप्रियता, सरलता, वाग्वैदम्य, लोकोन्मुखता, व्यंग्य-क्षमता, चपलता तथा सहजता सर्वत्र दिखाई देती होती है। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य विनोद प्रधान थी किंतु जब गंभीर विषयों पर वे निबंध लिखते थे, तब संयत एवं साधु भाषा का प्रयोग करते थे।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

बालकृष्ण भट्ट आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्ष निर्माताओं में से एक थे। आज की गद्य प्रधान कविता का जनक इन्हें माना जाता है। बालकृष्ण भट्ट एक सफल नाटककार, पत्रकार, उपन्यासकार और निबन्धकार थे। भट्ट जी ने निबन्ध, उपन्यास और नाटकों की रचना करके हिन्दी को एक समर्थ शैली प्रदान की। ये पहले ऐसे निबन्धकार थे, जिन्होंने आत्मपरक शैली का प्रयोग किया था। बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला और फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इन्होंने हिन्दी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। लगभग बत्तीस वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन कर भट्टजी अपने विचारों का व्यक्तिकरण करते रहे। ये 'भारतेन्दु युग' की देदीप्यमान मौन विभूति होने के साथ-साथ 'द्विवेदी युग' के लेखकों के मार्ग-दर्शक और प्रेरणा स्रोत भी रहे।

व्यक्तित्व

संवत् 1933 वि. में पंडित बालकृष्ण भट्ट ने गद्य साहित्य का मार्ग प्रशस्त करने हेतु 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन शुरू किया। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक एवं नैतिक आदि विभिन्न विषयों पर लिखे गए लघु निबंधों, जिनकी संख्या लगभग 50 से भी अधिक रही होगी, बत्तीस वर्षों तक प्रकाशित करते रहे। भट्ट संस्कृत के ज्ञाता वे पंडित थे। अंग्रेजी साहित्य का भी उन्हें भरपूर ज्ञान था। तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति से वे पूर्णरूपेण परिचित थे। वे अपने युग के सर्वाधिक प्रगतिशील व्यक्ति थे। भट्ट अपने विचारात्मक निबंधों के लिए मशहूर हैं।

कृतित्व

उन्होंने छोटे-छोटे अनेक निबंध लिखे। वे कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।

निबंध

वैज्ञानिक-भट्ट ने 'वायु', 'प्रकाश', 'धूम केतु', 'पेड़', 'सीसा', 'वनस्पति', 'विज्ञान', 'भूगर्भ निरूपण', 'पदार्थवाद' आदि।

शारीरिक अंग-पर निबन्ध लिखे। 'आँख', 'कान', 'नाक', आदि पर निबंध लिखे। साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है, प्रमुख निबंध हैं। 'प्रेम और भक्ति', 'तर्क और विश्वास', 'ज्ञान और भक्ति', 'विश्वास, प्रीति', 'अभिलाषा', 'आशा', 'स्पर्धा', 'धैर्य', 'माधुर्य', 'आत्म त्याग', 'सुख क्या है?' आदि प्रमुख वैचारिक निबंध हैं। 'सच्ची कविता', 'भाषा कैसी होनी चाहिए', 'उपमा',

उपन्यास- 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' आदि।

संपादन एवं प्रकाशन-'हिन्दी प्रदीप'।

साहित्यिक विशेषताएँ–उनके विचारात्मक निबंधों में उनकी खीझ, आक्रोश, भावावेश तथा झुंझलाहट स्पष्ट परिलक्षित होती है। साथ ही उनका खरापन भी उभरकर आ जाता है। देशभक्ति पर भट्ट ने सबसे अधिक बल दिया है। अंग्रेजों द्वारा लगाए जाने वाले कर, पुलिस अत्याचार, कृषि की दुर्गति, हिंदी की उपेक्षा, हिंदूओं और मुसलमानों में फूट डालने वाली नीति आदि का भट्ट ने निर्भय होकर विरोध किया है। भट्ट तिलक के समर्थक थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों के विरोधी थे। वे निर्भ्रांत रूप से यह स्वीकारते थे कि कांग्रेस अंग्रेजी सरकार को दृढ़ और पुष्ट करने हेतु स्थापित की गई है। सामाजिक चेतना की दृष्टि से भट्ट ने अपने युग का अतिक्रमण किया था। वे सभी प्रकार के बाह्याडंबरों का विरोध करते थे। विधवा-विवाह का समर्थन किया। अंध-विश्वास, बाल-विवाह, छुआछूत, पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, जाति पांति के भेद भाव आदि का प्रबल विरोध किया।

भट्ट की भाषा एवं साहित्यिक निबंधों का विशेष महत्त्व है। भट्ट द्वारा लिखित निबंध, 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है' आज भी साहित्य चिंतन के क्षेत्र में भट्ट की क्रांति दर्शिता का परिचायक बना हुआ है। शैली की दृष्टि से भट्ट के निबंधों का अत्यधिक महत्त्व है। निबंधकार का व्यक्तित्व

निबंधों में पूर्ण रूपेण व्यंजित हुआ है। मानसिक दृढ़ता, देश-प्रेम, आत्म विश्वास, विवेक, खरापन, त्याग, निडरता, कष्ट सहिष्णुता, उदारता एवं निष्ठा से समृद्ध उनके व्यक्तित्व की आभा से उनके निबंध दीप्त हैं। निबंधों में प्रचलित वर्गीकरण की दृष्टि से उनके अधिकांश निबंध विचारात्मक कोटि के हैं। किन्तु उन्होंने वर्णात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, कथात्मक एवं हास्य व्यंग्य प्रधान विविध प्रकार के निबंधों की रचना की है।

भट्ट की शैली व भाषा जीवंत भाव दीप्त एवं व्यावहारिक है। यत्रा-तत्रा समास गर्भित पदों का प्रयोग मिल जाता है। भाषा परिष्कृत एवं परिमार्जित नहीं है। भारतेंदु मंडल के अन्य रचनाकारों की भांति इसका-इस्के, उसके-उस्के, ले-लै, दे-दै, करना-किया आदि बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र आकर-आय, जाकर-जाय आदि के प्रयोग भी हुए हैं। इस दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भट्ट की भाषा भारतेन्दु युगीन भाषा का पूरी तरह अतिक्रमण नहीं कर सकी है। अपनी मौज में आकर भट्ट ने अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर कोष्ठकों में 'एजूकेशन', 'सोसायटी', 'नेशनल विगर एण्ड स्ट्रेन्थ', 'स्टैंडर्ड', 'करेक्टर' आदि आंग्ल भाषा के शब्दों का रोमन लिपि में प्रयोग किया गया है। यह भट्ट की शैली एवं भाषा का निरालापन है।

मुहावरों की उनकी सूझ बहुत अच्छी थी। शरीरिक अंगों से संबंधित मुहावरों की झड़ी लगा दी है। आँख को लेकर आँख आना, -जाना, -उठना -बैठना, -लड़ना, -लगना, -मारना आदि।

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'

व्यक्तित्व-'प्रेमधन' जी पं. गुरुचरणलाल उपाध्याय के पुत्र थे। गुरुचरणलाल उपाध्याय, कर्मनिष्ठ तथा विद्यानुरागी ब्राह्मण थे। संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में आपने तन-मन-धन से योगदान किया। इस तपस्वी एवं विद्याप्रेमी ब्राह्मण के उपाध्याय जी ज्येष्ठ पुत्र थे। आप सरयूपारीण ब्राह्मण कुलोद्भूत भारद्वाज गोत्रीय खोरिया उपाध्याय थे। आपका जन्म भाद्र कृष्ण शष्ठी, संवत् 1912 तदनुसार 1 सितम्बर 1855 ई0 को दत्तापुर, आजमगढ़ में हुआ था। इनकी माता ने मीरजापुर में हिंदी अक्षरों का ज्ञान कराया। फारसी की शिक्षा का आरम्भ भी घर पर करा दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा के लिए आप गोंडा (अवध) भेजे गए। यहाँ आपका सम्पर्क अयोध्यानरेश महाराज सर प्रतापनारायण सिंह (ददुआ साहेब), महाराज

उदयनारायण सिंह, लाला त्रिलोकी नाथ प्रभृत ताल्लुकेदारों से हुआ। इस संसर्गज गुण से आपको मृगया, गजसंचालन, निशानेबाजी, घोड़ासवारी आदि ताल्लुकदारी शौकों में रुचि हुई। उच्च शिक्षा पाने के लिए संवत् 1924 में फैजाबाद चले आए। पैत्रिक व्यवसाय और रियासत के प्रबन्ध के लिए मीरजापुर आ जाना पड़ा।

चौधरी गुरुचरणलाल विद्याव्यसनी थे। उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी और फारसी के साथ ही साथ संस्कृत की शिक्षा की व्यवस्था की तथा पं. रामानन्द पाठक को अभिभावक शिक्षक नियुक्त किया। पाठक जी काव्यमर्मी एवं रसज्ञ थे। इनके साहचर्य से कविता में रुचि हुई। इन्हीं के उत्साह और प्रेरणा से पद्य रचना करने लगे। संपन्नता और यौवन के संधिकाल में आपका झुकाव संगीत की ओर हुआ और ताल, लय, राग, रागिनी का आपको परिज्ञान हो गया, विशेषत: इसलिए कि वे रसिक व्यक्ति थे और रागरंग में अपने को लिप्त कर सके थे। संवत् 1928 में कलकत्ते से अस्वस्थ होकर आए और लम्बी बीमारी में फँस गए। इसी बीमारी के दौरान में आपकी पं. इन्द्र नारायण सांगलू से मैत्री हुई। सांगलू जी शायरी करते थे और अपने मित्रों को शायरी करने के लिए प्रेरित भी करते। इस संगत से नज्मों और गजलों की ओर रुचि हुई। उर्दू-फारसी का आपको गहरा ज्ञान था ही। अस्तु, इन रचनाओं के लिए 'अब्र' (तखल्लुस) उपनाम रखकर गजल, नज्म और शेरों की रचना करने लगे। सांगलू के माध्यम से आपकी भारतेन्दु बाबू, हरिश्चन्द्र से मैत्री का सूत्रपात हुआ। धीरे-धीरे यह मैत्री इतनी प्रगाढ़ हुई कि भारतेन्दु जी के रंग में प्रेमघन जी पूर्णतया पग गए, यहाँ तक कि रचनाशक्ति, जीवनपद्धति और वेशभूषा से भी भारतेन्दु जीवन अपना लिया।

वि. सं. 1930 में प्रेमधन जी ने 'सद्धर्म सभा' तथा 1931 वि. सं. 'रसिक समाज' की मीरजापुर में स्थापना की। संवत् 1933 वि. में 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुई, जिसमें इनकी कृतियों का प्रकाशन होता। उसका स्मरण चौधरी जी की मीरजापुर की कोठी का धूलिधूसरित नृत्यकक्ष आज भी कराता है। अपने प्रकाशनों की सुविधा के लिए इसी कोठी में आनन्दकादंबिनी मुद्रणालय खोला गया। संवत् 1938 में 'आनंदकादंबिनी' नामक मासिक पत्रिका की प्रथम माला प्रकाशित हुई। संवत् 1949 में 'नागरी नीरद' नामक साप्ताहिक का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया।

प्रेमधन जी के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का पारिवारिक-सा सम्बन्ध था। शुक्ल जी शहर के रमईपट्टी मुहल्ले में रहते थे और लंडन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। आनन्द कादंबिनी प्रेस में छपाई भी देख लेते थे। चौधरी

बंधुओं की सत्प्रेरणा और साहचर्य से अयोध्यानरेश ने युगप्रसिद्ध छन्दशास्त्र और रसग्रन्थ रसकुसुमाकर की रचना करवाई। रसकुसमाकर की व्याख्याशैली, संकलन, भाव, भाषा, चित्र चित्रण में आज तक इस बेजोड़ ग्रंथ को चुनौती देने में कोई रचना समर्थ नहीं हो सकी है यद्यपि यह ग्रंथ निजी व्यय पर निजी प्रसारण के लिए मुद्रित हुआ था। भारतेन्दु जी की आयु 34 वर्ष की थी। मित्र प्रेमधन जी ने इससे पूरी दूनी आयु पाई यानी 68 वर्ष की अवस्था में फाल्गुन शुक्ल 14, संवत् 1978 को आपकी इहलीला समाप्त हो गई।

प्रेमधन जी आधुनिक हिंदी के आविर्भाव काल में उत्पन्न हुए थे। उनके अनेक समसामयिक थे, जिन्होंने हिंदी को हिंदी का रूप देने में सम्पूर्ण योगदान किया। इनमें प्रमुख प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पं. सुधाकर द्विवेदी, पं. गोविन्दनारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, बाबू राधाकृष्णदास, पं. किशोरीलाल गोस्वामी तथा रामकृष्ण वर्मा प्रभृत साहित्यिक थे।

कृतित्व–निबंध, कविता तथा नाटक को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

नाटक-'भारत सौभाग्य', 'वारांगना-रहस्य', 'प्रयाग रामागमन', 'वृद्ध विलाप'।

समालोचना-बाबू गदाधर सिंह के अनुवाद 'वंग विजेता' तथा लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की विशद एवं कठोर समालोचना लिखकर हिंदी साहित्य में हिंदी समालोचना का सूत्रपात किया।

संपादन–'नागरी नीरद' साप्ताहिक पत्र एवं 'आनंद कादंबिनी' का संपादन किया।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनकी शैली विलक्षण थी। वे गद्य रचना को कला तथा कलम की कारीगरी स्वीकारने वाले लेखक थे। कभी-कभी ऐसे लंबे पेचीदे गद्य की रचना करते थे कि पाठक एक डेढ़ प्रघटक के लंबे वाक्यों में उलझ जाता था। ये वाक्य नहीं वाक्यातीत महाकाव्य या प्रोक्तियाँ होती थीं। अनुप्रास एवं अनूठे पद-विन्यास की ओर इनका विशेष ध्यान होता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। लेख लिखने के बाद कई बार उसको पढ़कर उसका परिष्कार एवं परिमार्जन कर लेने के बाद ही प्रकाशन हेतु देते थे। भारतेंदु के घनिष्ठ होकर भी उनके उतावलेपन की आलोचना करने से नहीं चूकते थे।

'आनंद कादंबिनी' का संपादन अपने वैचारिक भावों के अंकन हेतु ही किया। उसमें अन्यों को छपने का अवसर यदा-कदा ही मिलता था। इसी को ध्यान में रखते हुए भारतेंदु ने कहा था यह पुस्तक नहीं, पत्र है अपने अलावा अन्यों के लेख का प्रकाशन आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि सभी लेखक एक जैसे हों। समालोचना का सूत्रपात हिंदी में बदरीनारायण चौधरी ने किया।

भारतेंदु मंडल के प्रमुख साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा बदरीनारायण चौधरी थे। भारतेंदु मंडल के भारतेंदु हरिश्चन्द्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट एवं उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' प्रमुख साहित्यकार हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक रचनाकारों तथा संस्थाओं ने भारतेंदु युग के विभिन्न क्रियाकलापों में योगदान किया। वे निम्नलिखित हैं–

लाला श्रीनिवास दास

इन्होंने नाटक और उपन्यास लिखे। संसार को ऊँचा नीचा समझने वाले पुरुष थे। इनका जन्म सन् 1851 एवं मृत्यु 1886 में हुई।

नाटक–'तप्तासंवरण', 'संयोगिता स्वयंवर' तथा 'रणधीर-प्रेम मोहिनी'।

उपन्यास–'परीक्षा गुरु'।

साहित्यिक विशेषताएँ–श्रीनिवास दास व्यावहारिक साहित्यकार थे। भाषा संयत तथा साफ सुथरी एवं रचना अति उद्देश्यपूर्ण है। अति भोजन, अत्यधिक परोपकार, अधर्मियों की सहायता, कुपात्रा में भक्ति, न्यायपरता की अधिकता, अत्यंत बुद्धि वृत्ति, आदि पर करारा व्यंग्य करते हुए अति की वर्जना की है।

राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह मध्य प्रदेश की विजय राघवगढ़ रियासत के राजकुमार थे। इन्होंने काशी से संस्कृत एवं अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त की। अध्ययन काल में भारतेंदु हरिश्चन्द्र से उनका संपर्क हो गया किंतु भारतेंदु की रचना शैली का प्रभाव उन पर वैसा नहीं पड़ा जैसा भारतेंदु मंडल के साहित्यकारों पर पड़ा। वे संस्कृत साहित्य और अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता तथा हिंदी के एक प्रेम पथिक कवि एवं माधुर्यपूर्ण गद्य लेखक थे।

काव्य कृतियां–'प्रेम संपत्ति लता', 'श्याम लता', 'श्यामा सरोजिनी', एवं 'देवयानी'।

उपन्यास–'श्यामा स्वप्न'।

अनूदित–'ऋतु संहार' एवं 'मेघदूत' (ब्रजभाषा)।

साहित्यिक विशेषताएँ– शृंगार वर्णन एवं प्रकृति सौंदर्य की अवधारणा उनकी मुख्य काव्य प्रवृत्तियाँ हैं, जो उनकी काव्य कृतियों में विद्यमान है। उपन्यास में प्रसंगवसात कुछ कविताओं का समावेश सुंदर बन पड़ा है। जगमोहन सिंह भावुक मनोवृत्ति के कवि थे। कल्पना लालित्य, भावुकता, चित्र शैली और ब्रजभाषा की सरसता एवं मधुरता उनकी रचनाओं की अन्यतम विशेषताएँ हैं। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने 'श्यामा स्वप्न' में व्यक्त किया है। उसकी सरसता निराली है। ठाकुर जगमोहन सिंह ने प्राचीन संस्कृत के साथ भारतभूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले पहले हिंदी रचनाकार हैं।

बाबू तोता राम

ये हरिश्चन्द्र चंद्रिका के लेखकों में से हैं। आजीवन हिंदी के प्रचार एवं प्रसार में तत्पर रहे। साहित्य सृजन कर सभा के लिए अर्पित कर दिया।

सभा की स्थापना–'भाषा संवर्द्धिनी' सभा की स्थापना की।

पत्र–'भारत बंधु' साप्ताहिक पत्र।

अनूदित–'केटो कृतांत नाटक', 'स्त्री सुबोधिनी'।

साहित्यिक विशेषताएँ : सामान्य भाषा का प्रयोग बाबू तोता राम की प्रमुख विशेषता रही है।

पंडित केशव राम भट्ट

इन्होंने बिहार प्रांत में हिन्दी प्रचार-प्रसार हेतु अनेक यत्न किए।

नाटक–'शमशाद सौसन' तथा 'सज्जाद संबुल'।

पत्र–'बिहार बंधु' साप्ताहिक पत्र।

साहित्यिक विशेषताएँ–भाषा-उर्दू में लेखन।

पंडित राधाचरण गोस्वामी

'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के प्रभाव से समाज सुधार एवं देशभक्ति का भाव जागृत हुआ।

कृतित्व-'विदेश यात्रा विचार' तथा 'विधवा विवाह विवरण' नामक दो पुस्तकें लिखीं।

पत्र संपादन–भारतेंदु नामक पत्र निकाला।

अंबिका दत्त व्यास

कविवर दुर्गा दत्त व्यास के पुत्र अंबिका दत्त व्यास काशी निवासी सुकवि थे। वे संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान थे तथा दोनों भाषाओं में साहित्य सृजन का कार्य करते थे।

काव्य-'पावस पचासा', 'सुकवि सतसई' तथा 'हो हो होरी' काव्य कृतियां हैं।

प्रबंध काव्य-'कंस वध' (अपूर्ण)। खड़ी बोली। 'ललिता नाटिका', 'पावस पचासा', 'गद्य मीमांसा' आदि प्रबन्ध काव्य है।

नाटक-'भारत सौभाग्य', 'गो संकट नाटक', 'मरहेट्टा नाटक'।

संपादन–उन्होंने पीयूष-'प्रवाह'का सम्पादन किया।

कुंडलिया-समस्यापूर्ति-'बिहारी विहार', 'अवतार मीमांसा'।

साहित्यिक विशेषताएँ–ललित, ब्रजभाषा इनकी लेटान की प्रमुख विशेषता रही।

पंडित मोहन लाल विष्णु लाल पंड्या

पंडित मोहन लाल विष्णुलाल पंड्या (सन् 1850-1912 ई) ने गिरती दशा में 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' को सहारा दिया था तथा उसमें अपना नाम भी जोड़ा था। लोग इनकी वेशभूषा, बोल चाल से इन्हें इतिहासवेत्ता समझते थे। कविराज श्यामल दान जी ने जब अपने 'पृथ्वीराज चरित्र' ग्रंथ के द्वारा चंदवरदायी कृत 'पृथ्वीराज रासो' को जाली ग्रंथ प्रमाणित किया था उस समय इन्होंने 'रासो संरक्षा' की रचना कर उसे प्रामाणित महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

कृतित्व-'रासो-संरक्षा'।

पंडित भीमसेन शर्मा

पहले ये स्वामी दयानंद सरस्वती के दाएँ हाथ थे। संवत् 1940-1942 वि. के मध्य इन्होंने धर्म संबंधी अनेक पुस्तकें हिंदी में लिखी एवं संस्कृत ग्रंथों के हिंदी भाष्य भी प्रकाशित किए।

कृतित्व–'आर्य-सिद्धान्त' नामक मासिक पत्र।

'संस्कृत भाषा की अद्‌भुत शक्ति' निबन्ध।

साहित्यिक विशेषताएँ–आर्य भाषा के संबंध में इनका मत विलक्षण था। निबंध को आधार मानकर इन्होंने अरबी-फारसी के शब्दों को संस्कृत का रूप दिया जिसके लिए अनेक तर्क उपस्थित किए-दुश्मन-दु:शमन, सिफारिश-क्षिप्राशिष, चश्मा-चक्ष्मा, शिकायत-शिक्षायत्न आदि।

बाबू कार्तिका प्रसाद खत्री

कोलकात्ता से हिंदी का एक अच्छा पत्र और पत्रिका निकालने का सर्वप्रथम प्रयत्न करने वाले बाबू कार्तिका प्रसाद खत्री थे। उन्होंने हिन्दी में पाठक पैदा करने हेतु दौड़ धूप की। घर जा-जाकर पत्र सुनाकर आते थे।

कृतित्व–सन् 1928 ई. में 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' नाम का संवाद पत्र तथा 'प्रेम विलासिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया।

पंडित गोपी नाथ

'कवि वचन सुधा' की मनोहर लेखन शैली से प्रभावित, भाषा पर मुग्ध होकर गोपीनाथ ने पत्रिका संचालन किया।

कृतित्व-पत्रिका- संवत 1934-'मित्र विलास'।

साहित्यिक विशेषताएँ–भाषा अति सुष्ठु एवं ओजस्विनी।

पंडित दुर्गा प्रसाद मिश्र

कृतित्व पत्र- संवत् 135-'उचित वक्ता'-कोलकात्ता।

सदानंद मिश्र

कृतित्व पत्र- संवत् 1935-'सार सुधा निधि' कोलकात्ता।

राजा रामपाल सिंह- काला कांकर निवासी मनस्वी एवं देशभक्त।

कृतित्व पत्र- संवत् 1940-'हिंदोस्थान'- इंग्लैंड। भारतेंदु के स्वर्गवासी हो जाने पर संवत् 1942 में इस पत्र ने हिंदी दैनिक का रूप धारण कर लिया और इसके संपादक-पं. मदन मोहन मालवीय, पंडित प्रताप नारायण मिश्र एवं बाल मुकुंद गुप्त रहे।

बाबू रामकृष्ण वर्मा

कृतित्व पत्र- सन् 1884-'भारत जीवन' काशी।
अनूदित नाटक-वीर नारी, पद्मावती, कृष्ण कुमारी।
श्रीनिवास दास-
कृतित्व-उपन्यास-परीक्षा गुरू।

बाबू गदाधर सिंह

कृतित्व

अनूदित उपन्यास- 'बंगविजेता', 'दुर्गेशनंदिनी' बंगला से हिंदी।

राधाकृष्ण दास

भारतेंदु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास (सन् 1865-1907 ई.) बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। कविता के अलावा नाटक, उपन्यास एवं आलोचना के क्षेत्रों में सराहनीय साहित्य रचना की।

कृतित्व

कविताएं- 'भारत बारह मासा', 'देश दशा'।
नाटक- 'दु:खिनी बाला', 'महाराणा प्रताप'।

साहित्यिक विशेषताएँ-उनकी कविताओं में भक्ति, श्रृंगार एवं समकालीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को विशेष महत्त्व दिया गया है। समसामयिकता की प्रधानता है। प्रकृति के सुंदर चित्र भी दर्शनीय हैं। अंबिका दत्त व्यास की परंपरा का अनुगमन करते हुए उन्होंने रहीम के दोहों को विस्तार देते हुए कुंडलियाँ की रचना की। सन् 1884 ई. में हिंदी एवं नागरी के प्रचार प्रसार हेतु प्रयाग में 'हिंदी-उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' की स्थापना हुई। **बाबू श्याम सुंदर दास, पंडित राम नारायण मिश्र, ठाकुर शिव कुमार सिंह**-जैसे उत्साही छात्रों ने संवत् 1950 में 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। आदि से अंत तक बाबू श्याम सुंदर दास प्राण स्वरूप स्थित होकर तत्पर रहे। इसके प्रथम सभापति बाबू राधा कृष्ण दास हुए। इसके सहायकों में रायबहादुर पंडित लक्ष्मी शंकर मिश्र, स्वामी बाबू राम दीन सिंह, बाबू राम कृष्ण वर्मा, बाबू गदाधर सिंह

तथा बाबू कार्तिका प्रसाद के नाम प्रमुख हैं। इस सभा का मूल उद्देश्य नागरी अक्षरों का प्रचार तथा हिंदी साहित्य की समृद्धि रहा है।

पंडित रविदत्त शुक्ल

'देवाक्षर चरित्र'-प्रहसन।

पंडित गौरी दत्त

मेरठ निवासी सारस्वत ब्राह्मण अध्यापक थे। 40 वर्ष की अवस्था में अपनी संपूर्ण सम्पत्ति नागरी प्रचारिणी सभा काशी के नाम लिख दी। सन्यासी हो कर नागरी प्रचार का झंडा उठा लिया। इनके व्याख्यानों के प्रभाव स्वरूप मेरठ में अनेक देवनागरी स्कूल स्थापित हो गए।

कृतित्व–'गौरी नागरी कोश'।

पंडित मदन मोहन मालवीय-

'अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा' पुस्तक।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

कृतित्व

'सभा की ग्रंथ माला' में कई पुराने कवियों के अच्छे-अच्छे अप्रकाशित ग्रंथों की सूची प्रकाशित हुई।

कोश- 'वैज्ञानिक कोश', 'हिंदी शब्दसागर'।

पत्रिका- 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'।

संपादन-

ऐतिहासिक काव्य–'छत्रा प्रकाश', 'सुजान चरित्र', 'जंगनामा', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' आदि।

ग्रंथावली- 'तुलसी', 'जायसी', 'भूषण', 'देव'।

मनोरंजन पुस्तक माला- विभिन्न विषयों पर सैकड़ों उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

भारतेंदु युग के अन्य कवि

भारतेंदु युग में तत्कालीन विभिन्न परिवेश के प्रति जैसी जागरूकता का आविर्भाव हुआ उसका निर्वाह उस युग के गौण कवियों से नहीं हो सका। उन्होंने भक्ति-भावना एवं श्रृंगार वर्णन को ही अपनी रचना का विषय बनाया–

नवनीत चतुर्वेदी-'कुब्जा पचीसी', (रीति पद्धति की सरस रचना)(**गोविंद गिल्ला भाई**-'श्रृंगार-सरोजिनी', 'पावस पयोनिधि', 'राधा मुख ओडसी' तथा 'षड्तु' (भक्ति एवं प्रेम वर्णन विषयक रचनाएँ)(**दिवाकर भट्ट**-'नखशिख' एवं 'नवोढ़ारत्न' (रीति-पद्धति की रचनाएँ)(**राम कृष्ण वर्मा 'बलबीर**'-'बलबीर पचासा'(**सूर्यपुराधीश राजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे'–**

'प्यारे प्रमोद'(**गुलाब सिंह**-'प्रेम सतसई' एवं **राव कृष्ण देव शरण सिंह 'गोप**'-'प्रेम-संदेशा' (श्रृंगार रस की कृति) आदि।

इनके अनेक छंदों में नायक-नायिका की मनोदशाओं का सरस प्रस्तुतीकरण किया गया है। भारतेंदु युग पुरातन और नवीन के संधि स्थल पर अवस्थित है, जिसके परिणामस्वरूप कवियों में मध्यकालीन वैयक्तिकता के साथ-साथ समाज और राष्ट्र उद्बोधनकारी, लोकमंगलकारी दृष्टि अर्थात् समष्टि या सामाजिकता की ओर आकर्षण पैदा हुआ है। विचार-दर्शन में या तो एक प्रकार की उलझन है अथवा समकालीन परिवेश में उन्हें परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाने हेतु बाध्य कर दिया है। इस युग में प्रवृत्ति मूलक प्रेम काव्य, दास्य भक्ति या माधुर्य भक्ति की रचनाएँ, एवं सुधारवादी जीवन दृष्टि वाली रचनाएँ तीन काव्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

4

द्विवेदी युग

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्येतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण भारतेन्दु-युग है एवं दूसरा चरण द्विवेदी-युग। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद् होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने सरस्वती का अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थी। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्त्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था। उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित

हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं, ''मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरणरज कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया?'' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मैट्रिक तक की पढ़ाई की थी। तत्पश्चात् वे रेलवे में नौकरी करने लगे थे।

उसी समय इन्होंने अपने लिए सिद्धान्त निश्चित किए-वक्त की पाबंदी करना, रिश्वत न लेना, अपना काम ईमानदारी से करना और ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत् प्रयत्न करते रहना। द्विवेदी जी ने लिखा है, ''पहले तीन सिद्धान्तों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेत रहना कठिन था तथापि सतत् अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी, टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लेट-लेयर (Permanent way Inspector) तक का भी काम मैंने सीख लिया। फल अच्छा ही हुआ। अफसरों की नजर मुझ पर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह की एक दफे मुझे छोड़कर तरक्की के लिए दरबाश्त नहीं देनी पड़ी।'' द्विवेदी जी 15 रुपये मासिक पर रेलवे में बहाल हुए थे और जब उन्होंने 1904 ई. में नौकरी छोड़ी, उस वक्त 150 रुपये मूल वेतन एवं 50 रुपये भत्ता मिलता था, यानी कुल 200 रुपये।

उस जमाने में यह एक बहुत बड़ी राशि थी। वे 18 वर्ष की उम्र में रेलवे में बहाल हुए थे। उनका जन्म 1864 ई. में हुआ था और 1882 ई, से उन्होंने नौकरी प्रारंभ की थी। नौकरी करते हुए वे अजमेर, बंबई, नागपुर, होशंगाबाद, इटारसी, जबलपुर एवं झाँसी शहरों में रहे। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करते हुए पिंगल अर्थात् छंदशास्त्र का अभ्यास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 1895 ई. में श्रीमहिम्नस्तोत्र की रचना की, जो पुष्पदंत के संस्कृत काव्य का ब्रजभाषा में काव्य रूपांतर है। द्विवेदी जी ने सभी पद्य रचनाओं का भावार्थ खड़ी बोली गद्य में ही किया है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है, ''इस कार्य में हुशंगाबादस्थ बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सांप्रत मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर में विराजमान हैं, मैं परम कृतज्ञ हूँ।'' अपने 'आत्म-निवेदन' में उन्होंने लिखा है, ''बचपन से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और

ब्रजवासीदास के ब्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कविता भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कविवचन सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहीं कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा।

मेरा यह रोग बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों बना रहा।'' 1889 से 1892 ई. तक द्विवेदी जी की इस प्रकार की कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं-विनय-विनोद, विहार-वाटिका, स्नेहमाला, ऋतु तरंगिनी, देवी स्तुति शतक, श्री गंगालहरी आदि। 1896 ई. में इन्होंने लॉर्ड बेकन के निबंधों का हिन्दी में भावार्थ मूलक रुपांतर किया, जो बेकन-विचार-रत्नावली पुस्तक में संकलित हैं। 1898 ई. में इन्होंने हिन्दी कालिदास की आलोचना लिखी, जो हिन्दी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। 1988 ई. में श्रीहर्ष के नैषधीयचरितम पर इन्होंने नैषध-चरित-चर्चा नामक आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक पुस्तक लिखी। यह सिलसिला जो शुरू हुआ, वह 1930-31 ई. तक चला और द्विवेदी जी की कुल पच्चासी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

जनवरी, 1903 ई. से दिसंबर, 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती नामक मासिक पत्रिका का संपादन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया था, इसीलिए इस काल को हिन्दी साहित्येतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से जाना जाता है। अपने प्रकांड पांडित्य के कारण इन्हें 'आचार्य' कहा जाने लगा। उनके व्यक्तित्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, ''उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूँ।'' द्विवेदी जी का मानना था कि 'ज्ञान-राशि' के संचित कोष का ही नाम साहित्य है।' द्विवेदी जी स्वयं तो एक 'महान ज्ञान-राशि' थे ही उनका संपूर्ण वांग्मय भी संचित ज्ञानराशि है, जिससे होकर गुजरना अपनी जातीय परंपरा को आत्मसात करते हुए विश्वचिन्तन के समक्ष भी होना है। डॉ. रामविलास शर्मा ने द्विवेदी जी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, ''द्विवेदी जी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह संपत्तिशास्त्र है। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदी जी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियाँ लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएँ लाँघ जाती हैं।

इसके साथ उन्होंने राजनीति विषयों का अध्ययन किया और संसार में जो महत्त्वपूर्ण राजनीति घटनाएँ हो रही थी, उन पर उन्होंने लेख लिखे। राजनीति और अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने आधुनिक विज्ञान से परिचय प्राप्त किया और इतिहास तथा समाजशास्त्र का अध्ययन गहराई से किया। इसके साथ भारत के प्राचीन दर्शन और विज्ञान की ओर इन्होंने ध्यान दिया और यह जानने का प्रयत्न किया कि हम अपने चिन्तन में कहाँ आगे बढ़े हुए हैं और कहाँ पिछड़े हैं। इस तरह की तैयारी उनसे पहले किसी संपादक ने न की थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी प्रवेश में नवीन सामाजिक चेतना के प्रसार के लिए वह सबसे उपयुक्त व्यक्ति सिद्ध हुए।''

ऐसे महान ज्ञान-राशि के पुंज थे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी। किन्तु रामविलास शर्मा के पूर्व जितने भी आलोचक हुए, उन्होंने द्विवेदी जी का उचित मूल्यांकन तो नहीं ही किया, अपितु उनका अवमूल्यन ही किया। इन महान आलोचकों में रामचन्द्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं। रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में द्विवेदी जी पर जो टिप्पणी की है, उस पर एक नजर डालें, ''द्विवेदी जी ने सन् 1903 ई. में सरस्वती के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि पाठक भी उससे बहुत-कुछ समझ जाएँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही है। भाषा के नूतन शक्ति चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं।

स्थायी निबंधों की श्रेणी में चार ही लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकाल या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं।'' इसी प्रसंग में रामचन्द्र शुक्ल आगे लिखते हैं, ''कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेजी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है, जहाँ एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचारखंड के लिए

हों। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

अब आप देखें कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन के प्रति रामचंद्र शुक्ल की ये टिप्पणी पढ़कर हिन्दी का कोई भी पाठक उससे विरक्त होगा या आसक्त। रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को हिन्दी के विद्यार्थी साठ-पैंसठ वर्षों से आप्त वचनों की तरह याद करते आ रहे हैं। ऐसे में मूल पाठ से उनके आप्त वाक्यों का यदि मिलान कर परीक्षण न किया जाए, तो अनर्थ होगा ही। रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक, सबसे बड़े साहित्येतिहास-लेखक हैं। इसी इतिहास में वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक योगदानों को सिर्फ भाषा-परिष्कारकर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके शब्द हैं, ''यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया है।

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसा अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उसके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।'' दरअसल शुक्ल जी जिस आलोचना-पद्धति का सहारा लेकर उक्त बातें लिख रहे थे, उसे अंग्रेजी में Judicial Criticism और हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना कहते हैं और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके आलोचना के क्षेत्र में आलोचकों का ध्यान ऐतिहासिक युग, वातावरण एवं जीवन से हटाकर अधिकांशतः कलापक्ष तक ही सीमित कर दिया है। कलापक्ष की ओर ध्यान देने वाले आलोचकों का कहना हैं कि युगीन परिस्थितियाँ, युगीन चेतना और युग सत्य निरंतर परिवर्तनशील हैं, अतएव इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण इन्हें साहित्य का स्थायी मानदंड स्वीकार किया जा सकता, लेकिन इसी के साथ यह भी सत्य है कि ऐसी दशा में निर्णयात्मक आलोचना का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

इसका मुख्य कारण है ऐसे आलोचक का रचनाकार और रचना पर फतवे जारी करना। यही कारण है कि रामचंद्र शुक्ल ने द्विवेदी जी के विचारों को, उनके संचित ज्ञान-राशि पर ध्यान नहीं दिया और उनकी भाषा पर विचार किया। 'मोटी-मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर'-यह अभिव्यक्ति की प्रणाली पर बात की जा रही है, जो निःसंदेह भाषा है। जब द्विवेदी जी मूर्ख या मोटे दिमाग वालों के

लिए लिखते थे और मोटी तरह से लिखते थे, तो उन्होंने भाषा परिष्कार कैसे किया? जिस लेखक को भाषा की सतही समझ होगी, वह दूसरे लेखकों की भाषा को दुरुस्त कैसे करेगा? पुनः रामचन्द्र शुक्ल की बातों पर विचार करें–महावीर प्रसाद द्विवेदी ने शाश्वत साहित्य या स्थायी साहित्य नहीं लिखा। उनका महत्त्व भाषा–सुधार में है और उनकी भाषा कैसी है—मोटी अक्लवालों के लिए है। इस तरह की बातों से आचार्य शुक्ल का इतिहास भरा हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी–नवरत्न की समीक्षा लिखते हुए लिखा है, ''इस तरह की बातें किसी इतिहास कार के ग्रंथ में यदि पाई जाएँ तो उसके इतिहास का महत्त्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास–लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझकर उसका प्रयोग करे।''

सन् 1933 ई. में आचार्य द्विवेदी को नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। इसकी प्रस्तावना श्यामसुंदर दास एवं रायकृष्णदास के नाम से प्रकाशित हुई, किन्तु यह लिखी गई नंददुलारे वाजपेयी द्वारा। इसलिए यह 1940 ई. में प्रकाशित वाजपेयी जी की पुस्तक हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी में संकलित है। इसमें यह विचार किया गया है कि स्थायी या शाश्वत साहित्य में द्विवेदी जी का साहित्य परिगणित हो सकता है या नहीं। इस दृष्टिकोण से महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित संपूर्ण साहित्य को अयोग्य ठहरा दिया गया। सिर्फ उनके द्वारा संपादित सरस्वती के अंकों को ही महत्त्व दिया गया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864–1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1900–1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान् भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1900-1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

जन्म

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् 1864 ई. में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रामसहाय द्विवेदी था। कहा जाता है कि उन्हें महावीर का इष्ट था, इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र का नाम महावीर सहाय रखा।

शिक्षा

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई। प्रधानाध्यापक ने भूल से इनका नाम महावीर प्रसाद लिख दिया था। हिन्दी साहित्य में यह भूल स्थायी बन गयी। तेरह वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ने के लिए यह रायबरेली के जिला स्कूल में भर्ती हुए। यहाँ संस्कृत के अभाव में इनको वैकल्पिक विषय फारसी लेना पड़ा। इन्होंने इस स्कूल में ज्यों-त्यों एक वर्ष काटा। उसके बाद कुछ दिनों तक उन्नाव जिले के श्रनजीत पुरवा स्कूल' में और कुछ दिनों तक फतेहपुर में पढ़ने के बाद यह पिता के पास बम्बई चले गए। बम्बई में इन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेजी का अभ्यास किया।

कार्यक्षेत्र

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की उत्कृष्ट ज्ञान-पिपासा कभी तृप्त न हुई, किन्तु जीविका के लिए इन्होंने रेलवे में नौकरी कर ली। कुछ दिनों तक नागपुर और अजमेर में कार्य करने के बाद यह पुनः बम्बई लौट आए। यहाँ पर इन्होंने तार देने की विधि सीखी और रेलवे में सिगनलर हो गए। रेलवे में विभिन्न पदों

पर कार्य करने के बाद अन्ततः यह झाँसी में डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के ऑफिस में चीफ क्लर्क हो गए। पाँच वर्ष बाद उच्चाधिकारी से न पटने के कारण इन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। इनकी साहित्य साधना का क्रम सरकारी नौकरी के नीरस वातावरण में भी चल रहा था और इस अवधि में इनके संस्कृत ग्रन्थों के कई अनुवाद और कुछ आलोचनाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं। सन 1903 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार किया। 'सरस्वती' सम्पादक के रूप में इन्होंने हिन्दी के उत्थान के लिए, जो कुछ किया, उस पर कोई साहित्य गर्व कर सकता है। 1920 ई. तक गुरुतर दायित्व इन्होंने निष्ठापूर्वक निभाया। 'सरस्वती' से अलग होने पर जीवन के अन्तिम अठारह वर्ष इन्होंने गाँव के नीरस वातावरण में व्यतीत किए। ये वर्ष बड़ी कठिनाई में बीते।

व्यक्तित्व

महावीर प्रसाद द्विवेदी के कृतित्व से अधिक महिमामय उनका व्यक्तित्व है। आस्तिकता, कर्त्तव्यपरायणता, न्यायनिष्ठा, आत्मसंयम, परहित-कातरता और लोक-संग्रह भारतीय नैतिकता के शाश्वत विधान हैं। यह नैतिकता के मूर्तिमान प्रतीक थे। इनके विचारों और कथनों के पीछे इनके व्यक्तित्व की गरिमा भी कार्य करती थी। वह युग ही नैतिक मूल्यों के आग्रह का था। साहित्य के क्षेत्र में सुधारवादी प्रवृत्तियों का प्रवेश नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण ही हो रहा था। भाषा-परिमार्जन के मूलों में भी यही दृष्टिकोण कार्य कर रहा था। इनका कृतित्व 'लाघ्य है तो इनका व्यक्तित्व पूज्य। प्राचीनता की उपेक्षा न करते हुए भी इन्होंने नवीनता को प्रश्रय दिया था। 'भारत-भारती' के प्रकाशन पर इन्होंने लिखा था- "यह काव्य वर्तमान हिन्दी-साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है।" इस युगान्तर मूल में इनका ही व्यक्तित्व कार्य कर रहा था। द्विवेदी जी ने अनन्त आकाश और अनन्त पृथ्वी के सभी उपकरणों को काव्य-विषय घोषित करके इसी युगान्तर की सूचना दी थी। यह नवयुग के विधायक आचार्य थे। उस युग का बड़े से बड़ा साहित्यकार आपके प्रसाद की ही कामना करता था। सन् 1903 ई. से 1925 ई. तक (लगभग 22 वर्ष की अवधि में) द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य का नेतृत्व किया।

आलोचक

आलोचक के रूप में 'रीति' के स्थान पर इन्होंने उपादेयता, लोक-हित, उद्देश्य की गम्भीरता, शैली की नवीनता और निर्दोषिता को काव्योत्कृष्टता की

कसौटी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनकी आलोचनाओं से लोक-रुचि का परिष्कार हुआ। नूतन काव्य विवेक जागृत हुआ। सम्पादक के रूप में इन्होंने निरन्तर पाठकों का हित चिन्तन किया। इन्होंने नवीन लेखकों और कवियों को प्रोत्साहित किया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त इन्हें अपना गुरु मानते हैं। गुप्तजी का कहना है कि "मेरी उल्टी-सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था।" इन्होंने पत्रिका को निर्दोष, पूर्ण, सरस, उपयोगी और नियमित बनाया। अनुवादक के रूप में इन्होंने भाषा की प्रांजलता और मूल भाषा की रक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

मूल्यांकन

हिन्दी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। वह समय हिन्दी के कलात्मक विकास का नहीं, हिन्दी के अभावों की पूर्ति का था। इन्होंने ज्ञान के विविध क्षेत्रों- इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान, पुरातत्त्व, चिकित्सा, राजनीति, जीवनी आदि से सामग्री लेकर हिन्दी के अभावों की पूर्ति की। हिन्दी गद्य को माँजने-सँवारने और परिष्कृत करने में यह आजीवन संलग्न रहे। यहाँ तक की इन्होंने अपना भी परिष्कार किया। हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक करने के लिए (खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार के लिए) प्रबल आन्दोलन किया। हिन्दी गद्य की अनेक विधाओं को समुन्नत किया। इसके लिए इनको अंग्रेजी, मराठी, गुजराती और बंगला आदि भाषाओं में प्रकाशित श्रेष्ठ कृतियों का बराबर अनुशीलन करना पड़ता था। निबन्धकार, आलोचक, अनुवादक और सम्पादक के रूप में इन्होंने अपना पथ स्वयं प्रशस्त किया था। निबन्धकार द्विवेदी के सामने सदैव पाठकों के ज्ञान-वर्धन का दृष्टिकोण प्रधान रहा, इसीलिए विषय-वैविध्य, सरलता और उपदेशात्मकता उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ बन गयीं।

कृतियाँ

महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक देन कम नहीं है। इनके मौलिक और अनुदित पद्य और गद्य ग्रन्थों की कुल संख्या अस्सी से ऊपर है। गद्य में इनकी 14 अनुदित और 50 मौलिक कृतियाँ प्राप्त हैं। कविता की ओर महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की विशेष प्रवृत्ति नहीं थी। इस क्षेत्र में इनकी अनुदित कृतियाँ,

जिनकी संख्या आठ है, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मौलिक कृतियाँ कुल 9 हैं, जिन्हें स्वयं तुकबन्दी कहा है। इनकी समस्त कृतियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

पद्य (अनुवाद)

विनय विनोद 1889 ई.- भृतहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद

विहार वाटिका 1890 ई.- गीत गोविन्द का भावानुवाद

स्नेह माला 1890 ई.- भृतहरि के 'शृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद

श्री महिम्न स्तोत्र 1891 ई.- संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद

गंगा लहरी 1891 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सवैयों में अनुवाद

ऋतुतरंगिणी 1891 ई.- कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद

सोहागरात अप्रकाशित- बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद

कुमारसम्भवसार 1902 ई.- कालिदास के 'कुमार सम्भवम' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश।

गद्य (अनुवाद)

भामिनी-विलास 1891 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद

अमृत लहरी 1896 ई.- पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद

बेकन-विचार-रत्नावली 1901 ई.- बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद

शिक्षा 1906 ई.- हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्युकेशन' का अनुवाद

'स्वाधीनता' 1907 ई.- जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद

जल चिकित्सा 1907 ई.- जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

हिन्दी महाभारत 1908 ई.-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर

रघुवंश 1912 ई.- 'रघुवंश' महाकाव्य का भाषानुवाद

वेणी-संहार 1913 ई.- संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद

कुमार सम्भव 1915 ई.- कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद

मेघदूत 1917 ई.- कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद

किरातार्जुनीय 1917 ई.- भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद

प्राचीन पण्डित और कवि 1918 ई.- अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय

आख्यायिका सप्तक 1927 ई.- अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक 1892 ई.

कान्यकुब्जावलीव्रतम 1898 ई.

समाचार पत्र सम्पादन स्तवरू 1898 ई.

नागरी 1900 ई.

कान्यकुब्ज- अबला-विलाप 1907 ई.

काव्य मंजूषा 1903 ई.

सुमन 1923 ई.

द्विवेदी काव्य-माला 1940 ई.

कविता कलाप 1909 ई.

मौलिक गद्य रचनाएँ

तरुणोपदेश (अप्रकाशित)

हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना 1901 ई.

वैज्ञानिक कोश 1906 ई.,

'नाट्यशास्त्र' 1912 ई.

विक्रमांकदेवचरितचर्चा 1907 ई.

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति 1907 ई.

सम्पत्तिशास्त्र 1907 ई.

कौटिल्य कुठार 1907 ई.

कालिदास की निरकुंशता 1912 ई.

वनिता-विलाप 1918 ई.

औद्यागिकी 1920 ई.

रसज्ञ रंजन 1920 ई.

कालिदास और उनकी कविता 1920 ई.
सुकवि संकीर्तन 1924 ई.
अतीत स्मृति 1924 ई.
साहित्य सन्दर्भ 1928 ई.
अदभुत आलाप 1924 ई.
महिलामोद 1925 ई.
आध्यात्मिकी 1928 ई.
वैचित्र्य चित्रण 1926 ई.
साहित्यालाप 1926 ई.
विज्ञ विनोद 1926 ई.
कोविद कीर्तन 1928 ई.
विदेशी विद्वान् 1928 ई.
प्राचीन चिह्न 1929 ई.
चरित चर्या 1930 ई.
पुरावृत्त 1933 ई.
दृश्य दर्शन 1928 ई.
आलोचनांजलि 1928 ई.
चरित्र चित्रण 1929 ई.
पुरातत्त्व प्रसंग 1929 ई.
साहित्य सीकर 1930 ई.
विज्ञान वार्ता 1930 ई.
वाग्विलास 1930 ई.
संकलन 1931 ई.
विचार-विमर्श 1931 ई.

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1923 ई), काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन (1933 ई. और प्रयाग में आयोजित 'द्विवेदी मेला', 1933 ई.) के अवसर पर इन्होंने जो भाषण दिये थे, उन्हें भी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया है। आपकी बनायी हुई छः बालोपयोगी स्कूली पुस्तकें भी प्रकाशित हैं।

मृत्यु

21 दिसम्बर सन् 1938 ई. को रायबरेली में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का स्वर्गवास हो गया। हिन्दी साहित्य का आचार्य पीठ अनिश्चितकाल के लिए सूना हो गया।

नामकरण

आचार्य रामचन्द्र 'ाुक्त ने इस युग को प्रकरण 3 गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान नाम दिया है, जिसमें गद्य विद्या का विवेचन किया है एवं प्रकरण 3 नई धारा द्वितीय के अंतर्गत पद्य विद्या का विवेचन करते हुए लिखा है–"इस द्वितीय उत्थान के आरंभ काल में हम पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ही को पद्य रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदी जी का पड़ा है उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के गद्य-पद्य दोनों विधाओं में द्विवेदी जी का प्रमुख स्थान था।

डॉ. नगेन्द्र ने इस काल खंड को नया नाम 'जागरण-सुधार काल' देना चाहकर भी द्विवेदी युग नाम को उचित कहा है। डॉ. नगेन्द्र ने 'द्विवेदी युग' का औचित्य प्रतिपादन करते हुए लिखा है–"इस काल खंड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर इसका नाम 'द्विवेदी युग' उचित ही है। स्पष्ट हो गया कि इस काल खंड का सर्वमान्य नाम "द्विवेदी युग" है।

काल सीमांकन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी युग की काल सीमा संवत 1957-1977 वि. अर्थात् 20 वर्षों की कालावधि स्वीकारी है। डॉ. नगेन्द्र ने इस काल खंड का प्रारंभ 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन काल से माना है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सन् 1900-1918 ई. तक 'द्विवेदी युग' की सीमा स्वीकारी है। डॉ. लाल चंद गुप्त 'मंगल' ने द्विवेदी युग की काल सीमा सन् 1900-1918 ई. तक मानी है। प्रवृत्ति लगभग बीस वर्षों तक चलती रही है इसलिए सन् 1900-1920 तक मानना उचित है।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी, किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पाँचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएँ प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)।

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफ्फनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी

नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे। पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का निःसंकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं– कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911) और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर

प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें– गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में

'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियाँ 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थी। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी। पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़घोंघों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को

लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'ब्रूवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रगंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

द्विवेदी युग में निबंध लेखन

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली'

के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी-युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान-वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना। ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी-युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा-सुधार का किया। 'किंकर्त्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं—'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहाँ तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। क्रोध क्षमा कीजिए, इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुंचाते हैं। 'कृ' इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष'—भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा'—वर्णनात्मक है और 'हंस-संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत-कार्य'—विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती है, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य-मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ-सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम'—विचारात्मक और 'सब मिट्टी हो

गया'–भावात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु युग की यह परम्परा मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता' और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है, जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्त्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए, तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुंच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।" 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबंध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

द्विवेदी युगीन प्रतिनिधि रचनाकार

प्रतिनिधि रचनाकारों में प्रमुख कवि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिली शरण गुप्त, पं. रामचरित उपाध्याय, पं. लोचन प्रसाद पांडेय, राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', पं. नाथू राम शर्मा, पं. गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', पं. राम नरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन 'दीन' पं. रूप नारायण पांडेय, पं. सत्य नारायण 'कविरत्न',

वियोगी हरि, अयोध्या सिंह उपाध्याय, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', सैयद अमीर अली 'मीर', कामता प्रसाद गुरू, बाल मुकुंद गुप्त, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह आदि हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म 3 अगस्त 1886 में पिता सेठ रामचरण कनकने और माता काशी बाई की तीसरी संतान के रूप में उत्तर प्रदेश में झांसी के पास चिरगाँव में हुआ। माता और पिता दोनों ही वैष्णव थे। विद्यालय में खेलकूद में अधिक ध्यान देने के कारण पढ़ाई अधूरी ही रह गयी। रामस्वरूप शास्त्री, दुर्गादत्त पंत, आदि ने उन्हें विद्यालय में पढ़ाया। घर में ही हिन्दी, बंगला, संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। मुंशी अजमेरी जी ने उनका मार्गदर्शन किया। 12 वर्ष की अवस्था में ब्रजभाषा में कनकलता नाम से कविता रचना आरम्भ किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में भी आये। उनकी कवितायें खड़ी बोली में मासिक 'सरस्वती' में प्रकाशित होना प्रारम्भ हो गई।

प्रथम काव्य संग्रह 'रंग में भंग' तथा बाद में 'जयद्रथ वध' प्रकाशित हुई। उन्होंने बंगाली के काव्य ग्रन्थ 'मेघनाथ वध', 'ब्रजांगना' का अनुवाद भी किया। सन् 1912-1913 ई. में राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'भारत भारती' का प्रकाशन किया। उनकी लोकप्रियता सर्वत्र फैल गई। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्वप्नवासवदत्ता' का अनुवाद प्रकाशित कराया। सन् 1916-17 ई. में महाकाव्य 'साकेत' की रचना आरम्भ की। उर्मिला के प्रति उपेक्षा भाव इस ग्रन्थ में दूर किये। स्वत: प्रेस की स्थापना कर अपनी पुस्तकें छापना शुरु किया। साकेत तथा पंचवटी आदि अन्य ग्रन्थ सन् 1931 में पूर्ण किये। इसी समय वे राष्ट्रपिता गांधी जी के निकट सम्पर्क में आये। 'यशोधरा' सन् 1932 ई. में लिखी। गांधी जी ने उन्हें 'राष्टकवि' की संज्ञा प्रदान की। 16 अप्रैल 1941 को वे व्यक्तिगत सत्याग्रह में भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर लिए गए, पहले उन्हें झाँसी और फिर आगरा जेल ले जाया गया। आरोप सिद्ध न होने के कारण उन्हें सात महीने बाद छोड़ दिया गया। सन् 1948 में आगरा विश्वविद्यालय से उन्हें डी.लिट. की उपाधि से सम्मानित किया गया। 1952-1964 तक राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुये। सन् 1953 ई. में भारत सरकार ने उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया। तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने सन् 1962 ई. में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा डी.लिट. से सम्मानित किये गये। वे वहाँ मानद

प्रोफेसर के रूप में नियुक्त भी हुए। 1954 में साहित्य एवं शिक्षा क्षेत्र में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया। चिरगाँव में उन्होंने 1911 में साहित्य सदन नाम से स्वयं की प्रैस शुरू की और झाँसी में 1954-55 में मानस-मुद्रण की स्थापना की।

इसी वर्ष प्रयाग में 'सरस्वती' की स्वर्ण जयन्ती समारोह का आयोजन हुआ जिसकी अध्यक्षता गुप्त जी ने की। सन् 1963 ई. में अनुज सियाराम शरण गुप्त के निधन ने अपूर्णनीय आघात पहुंचाया। 12 दिसम्बर 1964 ई. को दिल का दौरा पड़ा और साहित्य का जगमगाता तारा अस्त हो गया। 78 वर्ष की आयु में दो महाकाव्य, 19 खण्डकाव्य, काव्यगीत, नाटिकाएँ आदि लिखी। उनके काव्य में राष्ट्रीय चेतना, धार्मिक भावना और मानवीय उत्थान प्रतिबिम्बित है। 'भारत भारती' के तीन खण्ड में देश का अतीत, वर्तमान और भविष्य चित्रित है। वे मानववादी, नैतिक और सांस्कृतिक काव्यधारा के विशिष्ट कवि थे। हिन्दी में लेखन आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने रसिकेन्द्र नाम से ब्रजभाषा में कविताएँ, दोहा, चौपाई, छप्पय आदि छंद लिखे। ये रचनाएँ 1904-05 के बीच वैश्योपकारक (कलकत्ता), वेंकटेश्वर (बम्बई) और मोहिनी (कन्नौज) जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। उनकी हिन्दी में लिखी कृतियाँ इंदु, प्रताप, प्रभा जैसी पत्रिकाओं में छपती रही। प्रताप में विदग्ध हृदय नाम से उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई।

कृतित्व

काव्य–'रंग में भंग', 'भारत भारती', 'साकेत', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'झंकार', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'जय भारत', 'विष्णु प्रिया'।

अनूदित- 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाथ वध' तथा 'वृत्रा संहार'।

नाटक- 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'अनाथ'।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनका चरित्र-चित्रण कौशल भी उत्कृष्ट प्रबंध कला का प्रमाण है। खड़ी बोली के स्वरूप निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने वालों में गुप्त अग्रगण्य हैं। ये भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक परंपराओं में पूर्ण आस्था रखने वाले गुप्त ने कभी युग धर्म की उपेक्षा नहीं की है। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के अलावा ये स्वतन्त्रा भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनका काव्य राष्ट्रीय भावना से भरपूर है।

पंडित रामचरित उपाध्याय

सन् 1872-1938 में जन्में रामचरित उपाध्याय उत्तर प्रदेश गाजीपुर जिले के रहने वाले थे। इनकी आरंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में ब्रजभाषा और खड़ी बोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही काव्य सृजन करते थे, किन्तु आचार्य द्विवेदी के संपर्क में आने पर खड़ी बोली तथा नवीन विषयों को अपनाया।

कृतित्व–'रामचरित चिंतामणि'-प्रबंध काव्य सूक्ति 'मुक्तावली' तथा 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि काव्य।

साहित्यिक विशेषताएँ–विविध छंदों का प्रयोग प्रबंध काव्य में किया है। भाषा की सफाई तथा वाग्वैदग्ध्य है।

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय

द्विवेदी युगीन कवियों में लोचन प्रसाद पांडेय (1886-1959 ई.) को विशेष प्रसिद्धि मिली थी। इनका जन्म सन् 1886 में विलासपुर (मध्य प्रदेश) जिले के बालापुर नामक गाँव में हुआ था। हिंदी, उड़िया, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। साहित्य सेवा के लिए 'काव्य विनोद' तथा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि मिली थी।

कृतित्व- 'प्रवासी', 'मेवाड़ गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य पुष्पांजलि'।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म सन् 1868-1915 में जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी.ए. एल.एल.बी. तक की शिक्षा प्राप्त कर कुछ दिनों तक वकालत की और बाद में कानपुर चले गए। वकालत के साथ-साथ ये सार्वजनिक कार्यों में अति उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वेदांत में विशेष रुचि थी। व्यावसायिक तथा सामाजिक क्रियाकलापों की व्यस्तता में रहते हुए भी साहित्याध्ययन एवं प्रणयन में सदैव दत्त-चित्त थे।

कृतित्व

काव्य–'स्वदेशी कुंडल'-'मृत्युंजय', 'राम-रावण विरोध', तथा 'वसंत-वियोग' संग्रह।

अनूदित- 'धाराधर धावन' (कालिदास के मेघदूत का अनुवाद)।

साहित्यिक विशेषता- काव्य में उपदेशात्मकता विद्यमान है–

पंडित नाथूराम शर्मा 'शंकर' का जन्म सन् 1859 में अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता थे। 13 वर्ष की छोटी-सी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा लिखा था। कानपुर में भारतेंदुमंडल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क में आते ही 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। बाद में इनको आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान मिल गया। प्रारंभ में ये ब्रज भाषा के कवि रहे किंतु शीघ्र ही खड़ी बोली की ओर झुक गए। उर्दू में भी काव्य सृजन का अच्छा कार्य कर लेते थे।

कृतित्व–'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'गर्भरंडा-रहस्य' (विधवाओं की बुरी स्थिति, तथा देव मंदिरों के अनाचार से संबंधित प्रबंध काव्य) तथा 'शंकर सर्वस्व'।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनके काव्य में सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। छंद शास्त्र के मर्मज्ञ थे। रीतिकालीन पद्धति में इन्होंनें श्रृंगारमयी रचनाएँ भी कीं। भाषा मनोरंजक है।

पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

पं. गयाप्रसाद शुक्ल श्सनेही' जी का जन्म श्रावण शुक्ल त्रयोदशी, संवत 1940 में उन्नाव जिले के हडहा नामक ग्राम में हुआ। यह गाँव बैसवाड़ा क्षेत्र के अंतर्गत है। सनेही जी के पिता पं. अक्सेरीलाल शुक्ल बड़े साहसी और देशभक्त व्यक्ति थे। 1850 ई. के स्वातंत्र्य संग्राम में उन्होंने भी जमकर भाग लिया और ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन बने। देशभक्ति और वीरभाव की यह परंपरा सनेही जी को अपने पिता से ही प्राप्त हुई। स्नेही जी आरम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। काव्य रचना का शौक इन्हें बचपन से ही था। काव्यशास्त्र का सम्यक अनुशील इन्होंने हडहा निवासी लाला गिरधारी लाल के चरणों में बैठकर किया। लालाजी रीतिशास्त्र के बड़े पंडित और ब्रजभाषा के सिद्धस्त कवि थे।

कार्यक्षेत्र

सनेही जी ने अपनी जीविका के लिए शिक्षक की वृति अपनाई। सन 1902 में ये शिक्षण पद्धति का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए दो वर्ष लखनऊ आकर रहे। यहाँ इनकी प्रतिभा का और भी विकास हुआ तथा ये ब्रजभाषा, खड़ी बोली एवं

उर्दू के कवियों के संपर्क में आये। सनेही जी इन तीनों भाषाओं में काव्य रचना करते थे परन्तु रससिद्ध कविता की दृष्टि से ये प्रमुखत: ब्रजभाषा के ही कवि थे। इनकी प्रसिद्धि होने पर पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें खड़ीबोली काव्य रचना की ओर प्रेरित किया और इस क्षेत्र में भी सनेही जी का अद्वितीय स्थान रहा, परन्तु ब्रजभाषा में भी ये आजीवन लिखते रहे। शिक्षा विभाग में नौकरी करने के कारण इन्होंने अपनी राष्ट्रीय कवितायेँ 'त्रिशूल' उपनाम से लिखीं। सनेही नाम से ये परंपरागत और रससिद्ध कवितायें करते थे और त्रिशूल उपनाम से ये समाज सुधार और स्वाधीनता प्रेम की रचनाएँ लिखते थे। 'तरंगी' और 'अलमस्त' ये दोनों भी सनेही जी के उपनाम हैं। असहयोग आन्दोलन के समय इन्होंने टाउन स्कूल की हेड मास्टरी से त्यागपत्र दे दिया और कानपुर को अपना कर्मक्षेत्र बनाकर स्वाधीनता के कार्यों में अपने को खपा दिया।

कृतित्व

काव्य–'कृषक-क्रंदन', 'प्रेम पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा कादंबिनी' आदि।

काव्य पत्रिका- 'सुकवि' नामक काव्य पत्रिका के संपादक थे।

साहित्यिक विशेषताएँ–खड़ी बोली में कवित्व और सवैया छंद प्रयोग में इन्हें सिद्ध-हस्तता प्राप्त थी। उर्दू बहरों के कुशल प्रयोगकर्ता रहे हैं। सामयिक आंदोलनों से संबंधित अनेक प्रयाण एवं बलिदान गीतों की रचना की।

पंडित राम नरेश त्रिपाठी

राम नरेश त्रिपाठी का जन्म सन् 1889 में ग्राम कोईरी पुर, जनपद जौनपुर में हुआ था। सुलतानपुर रेलवे स्टेशन के पश्चिम में ही आवास था। रेलवे के द्वारा भूमि का अधिग्रहण कर लिए जाने पर कोईरी पुर पैत्रिक स्थान पर चले गए। रुद्रपुर, सुलतानपुर में स्थित प्रेस अब भी चल रहा है, जिसकी देखभाल इनके सुपुत्र कर रहे हैं। इनकी प्रार्रभिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में ही हुई। अंग्रेजी पढ़ने हेतु जौनपुर के स्कूल में प्रवेश ले लिया, किंतु अध्ययन क्रम नौंवी कक्षा से आगे नहीं चल सका। कविता के प्रति बचपन से ही रुचि थी। ग्राम के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में कविता लिखते थे।

कृतित्व–'ग्राम्यगीत', (संग्रह), 'मिलन', 'पथिक', 'मानसी' तथा 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खंड काव्य हैं। मानसी मुक्त कविता संग्रह है।

संपादन–'कविता कौमुदी' (आठ भाग)

साहित्यिक विशेषताएँ–मुक्त कविताओं में देश भक्ति, प्रकृति चित्रण तथा नीति निरूपण की प्रधानता है। खंड काव्यों में उपदेशात्मकता प्रधान है।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लाला भगवानदीन 'दीन' का जन्म सन् 1866 में ग्राम बरबर जनपद फतहपुर में हुआ था। काव्य 'ास्त्र के पंडित थे। हिंदी उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे।

कृतित्व

काव्य–'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न' तथा 'नवीन बीन' अन्य कविता संग्रह हैं। 'नदीमें दीन' फुटकल काव्य संग्रह है।

संपादन–लक्ष्मी के संपादक।

साहित्यिक विशेषताएँ–युवावस्था में पुराने ढंग की कविताएँ लिखीं। संपादक बनकर खड़ी बोली की ओर मुंह मोड़ा तथा फड़कती कविताएँ लिखने लगे किंतु तर्ज मुंशियाना ही बनाए रखा। उर्दू की बहरों में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते थे। खड़ी बोली की कविताएँ वीर रस से संबंधित होने के फलस्वरूप जोशीले भाषण का रूप धारण कर लेती हैं। वीर काव्यों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक बहादुरों के चरित्र-चित्रण में ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। प्राचीन काव्यों की टीकाएँ लिखकर हिंदी साहित्य का अत्यधिक उपकार किया है।

पंडित रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण पांडेय का जन्म सन् 1884 ई. में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ। प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे किंतु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभावस्वरूप खड़ी बोडी में काव्य सृजन करने लगे।

कृतित्व

काव्य–'पराग' तथा 'वन-वैभव' मौलिक कविताओं के संकलन हैं।

संपादन–'नागरी-प्रचारकं', 'इंदु' तथा 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक संपादन किया।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनका काव्य अति सरल एवं भावुकतामय है। इनकी सहानुभूति पशु पक्षियों तक पहुच जाती है। संस्कृत तथा बंगला–काव्यों का अनुवाद कार्य भी किया।

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न'

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म सन् 1880 में अलीगढ़ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता–पिता का स्वर्गवास हो गया। ताजगंज, आगरा के बाबा रघुबरदास ने इनको पाला। सन् 1910 में सेंट जौंस कॉलेज आगरा से बी. ए. परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए। क्रमिक शिक्षा का अंत हो गया। छात्रा काल में काव्य सृजन करने लगे थे। आरंभ में विनय के पद तथा समस्यापूर्ति लिखते थे। ये रसिक जीव थे। ब्रज की एकांत भूमि में अकेले बैठे ब्रज की सरस पदावली की रस मग्नता में खोए रहते थे। नंददास आदि कवियों की प्रणाली में पदों की रचना की। वेशभूषा सरल थी। काव्यमय जीवन था।

कृतित्व–'प्रेमकली' एवं 'भ्रमर दूत' कविताएँ 'हृदय तरंग', (संग्रह)

अनूदित– होरेशस का अनुवाद।

साहित्यिक विशेषताएँ: इनकी रचनाओं में देश की नई पुकार भी कहीं–कहीं सुनाई पड़ती है। ब्रज भाषा के सवैया पढ़ने का इनका ढंग ऐसा आकर्षक था कि श्रोता मंत्रा मुग्ध हो जाते थे। इनके कुछ पदों में गहरी खिन्नता दृष्टिगोचर होती है। नारी–शिक्षा के पक्षधर थे।

वियोगी हरि

वियोगी हरि का जन्म वर्ष 1896 ई. में छतरपुर राज्य के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण इनका पालन–पोषण एवं शिक्षा ननिहाल में घर पर ही हुई। शिक्षा आदि के कार्य में वियोगी हरि प्रारम्भ से ही मेधावी रहे थे। इनकी हिन्दी और संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। मैट्रिकुलेशन की परीक्षा इन्होंने 1915 में छतरपुर के हाईस्कूल से उत्तीर्ण की। वियोगी हरि की किशोरावस्था से ही दर्शनशास्त्र में विशेष अभिरुचि थी। छतरपुर की महारानी कमलकुमारी 'युगलप्रिया' के स्नेह–सिक्त सम्पर्क से उनके साथ भारत के प्रसिद्ध तीर्थों का इन्होंने भ्रमण किया।

वियोगी हरि आधुनिक ब्रजभाषा के प्रमुख कवि, हिन्दी के सफल गद्यकार और देश के समाजसेवी संत थे। वे लगभग 40 वर्षों तक हिन्दी साहित्य की सक्रिय सेवा करते रहे। सन 1917 में पुरुषोत्तमदास टण्डन से इनका परिचय हुआ और उन्हीं से इन्हें लेखन और साहित्य-सेवा की सबसे पहले प्रेरणा मिली। इनकी प्रवृत्ति अस्पृश्यतानिवारण की दिशा में उन्होंने 1920 में कानपुर के 'प्रताप' में एक लेखमाला लिखी थी। महात्मा गांधी के सम्पर्क ने इन्हें इस कार्य से और अधिक बाँध दिया था। यह कार्य ही उनके जीवन का एक उद्देश्य बन गया। गांधीजी द्वारा प्रवर्तित 'हरिजन-सेवक' (हिन्दी संस्करण) के सम्पादन का कार्य भी इन्होंने सँभाल लिया था। तभी से 'हरिजन सेवक संघ' से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। बाद में वियोगी हरि इसके अध्यक्ष भी रहे।

वियोगी हरि ने अनेक ग्रंथों का सम्पादन, प्राचीन कविताओं का संग्रह तथा संतों की वाणियों का संकलन किया। कविता, नाटक, गद्यगीत, निबन्ध आदि के अतिरिक्त बालोपयोगी पुस्तकें और महापुरुषों की जीवनियाँ लिखी। 1932 से साहित्य साधना से विरत होकर 'हरिजन सेवक संघ', 'दिल्ली गांधी स्मारक निधि' एवं 'भूदान आन्दोलन' का कार्य वियोगी हरि करते रहे।

कृतित्व–'वियोगी हरि ने लगभग 40 पुस्तकें रची हैं। इनके मुख्य रचनाएँ हैं–

'भावना', 'प्रार्थना', 'प्रेम-शतक', आधुनिक युग, साहित्य विहार, वीर सतसई, प्रेम पथिक, वीणा, प्रेमांजलि, प्रेमशतक, तरंगिणी, अन्तर्नाद, पगली, प्रार्थना, छद्मयोगिनी, वीर हरदौल, मेरा जीवन प्रवाह, मंदिर प्रवेश, मेवाड़ केसरी, बुद्ध बाणी, विश्वधर्म, कबीर की साखियाँ।

साहित्यिक विशेषताएँ–अधिकांश भक्तिपरक एवं प्रेम प्रधान रचनाएँ की। देशभक्ति का चित्रण भी किया है। 'वीर सतसई' में प्रसिद्ध बहादुरों की प्रशंसाएं हैं, जो दोहा छंद में लिखी गई हैं। इनके पदों को पढ़कर या सुनकर रसिक भक्त बलिहारी जाते हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म सन् 1865 में ग्राम निजामाबाद जनपद आजमगढ़ में हुआ था। ये द्विवेदी युग की महान विभूति तथा खड़ी बोली को काव्य भाषा पद पर प्रतिष्ठित करने वाले महान कवि थे। ये सर्वप्रथम-निजामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए फिर सरकारी कानूनगों पद पर

नियुक्त हो गए। वहां से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी में हिंदी के अवैतनिक प्राध्यापक हो गए। वृद्धावस्था के कारण विश्वविद्यालय की सेवा छोड़कर घर पर रहकर ही साहित्य साधना करने लगे।

कृतित्व

काव्य–'प्रिय प्रवास', 'पद्य प्रसून', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदें', 'वैदेही वनवास', 'पद्-प्रमोद', 'पारिजात', 'बोल-चाल', 'ऋतु मुकुर', 'काव्योपवन', 'प्रेम पुष्पोपहार', 'प्रेम प्रपंच', 'प्रेमांबु प्रस्रवण', 'प्रेमांबु-वारिधि' आदि।

रीतिग्रंथ–'रस कलस'।

गद्य–'ठेठ हिंदी का ठाट', 'अधखिला फूल', 'प्रेमकांता', 'वेनिस का बांका', एवं 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास'।

साहित्यिक विशेषताएँ

हरिऔध द्विवेदी युग के ख्यातिप्राप्त कवि, उपन्यासकार, आलोचक, इतिहासकार तथा भाषा विज्ञान वेत्ता हैं। साहित्य सेवा के प्रति समर्पित। 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली में लिखा गया हिंदी का प्रथम महाकाव्य है, जिसमें राधा कृष्ण को सामान्य नायिका-नायक के स्तर से उठाकर विश्व सेवी तथा विश्व प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'रस कलस' में रस-स्वरूप, प्रकार का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

काव्य में सरलता, प्रांजलता एवं सौंदर्य की प्रधानता है। एक ओर निरलंकार सौंदर्य है तो दूसरी ओर संस्कृत की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा विद्यमान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त भाषा का रूप दिया है। दोहा, कविता, सवैया आदि के साथ साथ संस्कृत वर्णिक छंदों का समावेश किया है। काव्य शैली अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। प्रकृति चित्रण अति सजीव तथा परिस्थितियों से प्रभावित है। हरिऔध सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी, प्रबुद्ध साहित्यकार हैं।

गिरिधर शर्मा-'नवरत्न'

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' (सन् 1881-1961 ई.) का जन्म सन् 1881 में जयपुर में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ प्रकाशित होती रहती थी।

कृतित्व–'मातृवंदना'–मौलिक काव्य।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश–प्रेम था। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कवि थे। संस्कृत बंगला से हिंदी में पद्यानुवाद भी किए।

सैयद अमीर अली 'मीर'

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म सन् 1873 में मध्य प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया, जिसके परिणामस्वरूप चाचा के पास देवरी ग्राम सागर में रहे।

कृतित्व–'उलाहना पंचक' तथा 'अन्योक्ति शतक' मुख्य काव्य कृतियां हैं।

साहित्यिक विशेषताएँ–साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश समस्यापूर्ति के द्वारा हुआ। इन्होंने देवरी में 'मीर मंडल' कवि समाज की स्थापना की। हिंदी प्रेमी एवं राष्ट्रभाषा समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति विशेष लगाव था। ईश्वर भक्ति और देश प्रेम इनकी कविता का मुख्य विषय था।

कामता प्रसाद गुरु

व्यक्तित्व- कामता प्रसाद गुरु का जन्म सागर, मध्य प्रदेश में हुआ।

कृतित्व

पद्य ग्रंथ- 'भौमासुर वध' तथा 'विनय पचासा' ब्रजभाषा में लिखे गये पद्य ग्रंथ हैं।

कविता संग्रह- 'पद्य पुष्पावली'।

कविताएं- 'शिवाजी' तथा 'दासी रानी'।

व्याकरण ग्रंथ- 'हिंदी व्याकरण।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनकी कविताएँ सरल एवं भावपूर्ण हैं। ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों में रचनाएँ कीं। गुरु की ख्याति का मुख्य श्रेय उनके 'हिंदी व्याकरण' को है, जिसे वर्तमान समय में भी हिंदी का आदर्श व्याकरण स्वीकारा जाता है।

बाल मुकुंद गुप्त

बाल मुकुंद गुप्त का जन्म सन् 1865 में ग्राम गुड़ियाना, जनपद रोहतक, हरियाणा प्रदेश में हुआ था। ये भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं।

कृतित्व–'स्फुट कविता', इनकी कविताओं का संकलन है।

साहित्यिक विशेषताएँ–ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के कुशल संपादक थे। हिंदी प्रेम इनकी कविताओं का विषय रहा है। ये अच्छे जीवट एवं हास्य-व्यंग्य प्रधान व्यक्ति थे।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक (सन् 1859-1928 ई.) का जन्म सन् 1859 में ग्राम जोंधारी जनपद आगरा में हुआ था। हिंदी के अलावा अंग्रेजी एवं संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आजीविका चलाने हेतु पाठक ने सरकारी सेवा कार्य अपनाया था। सेवा काल में ही इन्हें सरकारी कार्य से कश्मीर एवं नैनीताल भी जाना पड़ा था, जहाँ इन्हें प्राकृतिक छटा देखने का भव्य अवसर मिला था।

कृतित्व

काव्य–'वनाष्टक', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून' तथा 'भारत गीत'।

कविताएं- 'भारतोत्थान', 'भारत-प्रशंसा', 'जार्ज-प्रशंसा' तथा 'बाल-विधवा' आदि।

अनुवाद- कालिदास कृत 'ऋतुसंहार'-गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट'-'एकांतवासी योगी', डेजर्टेड 'विलेज'-'उजाड़ गाँव', तथा 'द ट्रैवेलर'-'श्रांत पथिक' नाम से काव्यानुवाद किया।

साहित्यिक विशेषताएँ–ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविताएँ लिखी। ब्रजभाषा का स्वरूप सहज एवं बाह्याडंबर विहीन है। खड़ी बोली के श्रीधर प्रथम समर्थ कवि हैं। इनकी कविता के मुख्य विषय देश प्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति चित्रण हैं। देश का गौरवगान इन्होंने अति मनोयोग से किया किन्तु भारतेंदु युगीन कवियों की तरह श्रीधर पाठक में भी देशभक्ति के साथ साथ राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर इन्होंने 'भारतोत्थान' तथा 'भारत प्रशंसा' आदि जैसी देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखीं तो दूसरी ओर 'जार्ज वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया गया है।

विधवाओं की स्थिति तथा उनकी व्यथा का कारुणिक चित्र उपस्थित किया है।

ठाकुर गोपाल शरण सिंह

व्यक्तित्व- ठाकुर गोपाल शरण सिंह (सन् 1891-1960 ई.) नई गढ़ी, रीवां में जन्मे थे।

कृतित्व

काव्य–'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी प्रमुख काव्यकृतियाँ हैं।

साहित्यिक विशेषताएँ–इन्होंने खड़ी बोली को परिमार्जित करने तथा उसे माधुर्यपूर्ण रूप प्रदान करने में विशेष योगदान किया।

ब्रजभाषा के समान ही खड़ी बोली में सरस-मधुर कवित्त-सवैया आदि का सृजन किया। इनके काव्य में जीवन की विविध दशाओं के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं।

मुकुटधर पांडेय

व्यक्तित्व- उनका जन्म छत्तीसगढ़ राज्य के बिलासपुर जिले के एक छोटे से गाँव बालपुर में 30 सितम्बर सन् 1895 ई0 को हुआ। वे अपने आठ भाईयों में सबसे छोटे थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में ही हुई। इनके पिता पं. चिंतामणी पाण्डेय संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और भाइयों में पं0 लोचन प्रसाद पाण्डेय जैसे हिन्दी के ख्यात साहित्यकार थे। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु हो जाने पर बालक मुकुटधर पाण्डेय के मन में गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु वे अपनी सृजनशीलता से विमुख नहीं हुए।

उनका निधन 6 नवम्बर 1989 को हुआ।

कृतित्व–'पूजा-फूल' तथा 'कानन-कुसुम' काव्य संकलन हैं।

साहित्यिक विशेषताएँ–ये अच्छे कवि थे। प्रकृति की उपासना करने वाले थे। इनके काव्य में भावात्मकता आंतरिक संवेदना तथा रहस्यात्मक अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। इन्हें द्विवेदी युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माना गया है। इनका काव्य छायावादाभास देता है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग के सहयोगियों में लोकमणि, सत्य शरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, शिव कुमार त्रिपाठी, पार्वती देवी, तोष कुमारी आदि भी उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने तत्कालीन साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

5

प्रसाद-युग

जयशंकर प्रसाद, हिन्दी कवि, नाटककार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य में एक तरह से छायावाद की स्थापना की, जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में न केवल कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई, बल्कि जीवन के सूक्ष्म एवं व्यापक आयामों के चित्रण की शक्ति भी संचित हुई और कामायनी तक पहुँचकर वह काव्य प्रेरक शक्तिकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया। बाद के प्रगतिशील एवं नई कविता दोनों धाराओं के प्रमुख आलोचकों ने उसकी इस शक्तिमत्ता को स्वीकृति दी। इसका एक अतिरिक्त प्रभाव यह भी हुआ कि खड़ी बोली हिन्दी काव्य की निर्विवाद सिद्ध भाषा बन गयी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे, जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिंदी को गौरवान्वित होने योग्य कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के प्रमुख स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, नाटक लेखन में भारतेन्दु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे, जिनके नाटक आज भी पाठक न केवल चाव से पढ़ते हैं, बल्कि उनकी अर्थगर्भिता तथा रंगमंचीय प्रासंगिकता भी दिनानुदिन बढ़ती ही गयी है। इस दृष्टि से उनकी महत्ता पहचानने एवं स्थापित करने में वीरेन्द्र नारायण, शांता गांधी, सत्येन्द्र तनेजा एवं अब कई दृष्टियों से सबसे बढ़कर महेश आनन्द

का प्रशंसनीय ऐतिहासिक योगदान रहा है। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करुणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्‌घाटन। 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएँ की।

जीवनवृत्त

जयशंकर प्रसाद हिन्दी नाट्य जगत् और कथा साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। कथा साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। भावना-प्रधान कहानी लिखने वालों में जयशंकर प्रसाद अनुपम थे।

जन्म

जिस समय खड़ी बोली और आधुनिक हिन्दी साहित्य किशोरावस्था में पदार्पण कर रहे थे। उस समय जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् 1889 ई. (माघ शुक्ल दशमी, संवत् 1946 वि.) वाराणसी, उत्तर प्रदेश में हुआ था। कवि के पितामह शिव रत्न साहु वाराणसी के अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक थे और एक विशेष प्रकार की सुरती (तम्बाकू) बनाने के कारण 'सुँघनी साहु' के नाम से विख्यात थे। उनकी दानशीलता सर्वविदित थी और उनके यहाँ विद्वानों कलाकारों का समादर होता था। जयशंकर प्रसाद के पिता देवीप्रसाद साहु ने भी अपने पूर्वजों की परम्परा का पालन किया। इस परिवार की गणना वाराणसी के अतिशय समृद्ध घरानों में थी और धन-वैभव का कोई अभाव न था। प्रसाद का कुटुम्ब शिव का उपासक था। माता-पिता ने उनके जन्म के लिए अपने इष्टदेव से बड़ी प्रार्थना की थी। वैद्यनाथ धाम के झारखण्ड से लेकर उज्जयिनी के महाकाल की आराधना के फलस्वरूप पुत्र जन्म स्वीकार कर लेने के कारण शैशव में जयशंकर प्रसाद को 'झारखण्डी' कहकर पुकारा जाता था। वैद्यनाथधाम में ही जयशंकर प्रसाद का नामकरण संस्कार हुआ।

शिक्षा

जयशंकर प्रसाद की शिक्षा घर पर ही आरम्भ हुई। संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू के लिए शिक्षक नियुक्त थे। इनमें रसमय सिद्ध प्रमुख थे। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के लिए दीनबन्धु ब्रह्मचारी शिक्षक थे। कुछ समय के बाद स्थानीय क्वीन्स

कॉलेज में प्रसाद का नाम लिख दिया गया, पर यहाँ पर वे आठवीं कक्षा तक ही पढ़ सके। प्रसाद एक अध्यवसायी व्यक्ति थे और नियमित रूप से अध्ययन करते थे।

पारिवारिक विपत्तियाँ

प्रसाद की बारह वर्ष की अवस्था थी, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। इसी के बाद परिवार में गृहक्लेश आरम्भ हुआ और पैतृक व्यवसाय को इतनी क्षति पहुँची कि वही सुँघनीसाहु का परिवार, जो वैभव में लोटता था, ऋण के भार से दब गया। पिता की मृत्यु के दो-तीन वर्षों के भीतर ही प्रसाद की माता का भी देहान्त हो गया और सबसे दुर्भाग्य का दिन वह आया, जब उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरतन चल बसे तथा सत्रह वर्ष की अवस्था में ही प्रसाद को एक भारी उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ा। प्रसाद का अधिकांश जीवन वाराणसी में ही बीता था। उन्होंने अपने जीवन में केवल तीन-चार बार यात्राएँ की थी, जिनकी छाया उनकी कतिपय रचनाओं में प्राप्त हो जाती हैं। प्रसाद को काव्यसृष्टि की आरम्भिक प्रेरणा घर पर होने वाली समस्या पूर्तियों से प्राप्त हुई, जो विद्वानों की मण्डली में उस समय प्रचलित थी।

बहुमुखी प्रतिभा

प्रसाद जी का जीवन कुल 48 वर्ष का रहा है। इसी में उनकी रचना प्रक्रिया इसी विभिन्न साहित्यिक विधाओं में प्रतिफलित हुई कि कभी-कभी आश्चर्य होता है। कविता, उपन्यास, नाटक और निबन्ध सभी में उनकी गति समान है। किन्तु अपनी हर विद्या में उनका कवि सर्वत्र मुखरित है। वस्तुतः एक कवि की गहरी कल्पनाशीलता ने ही साहित्य को अन्य विधाओं में उन्हें विशिष्ट और व्यक्तिगत प्रयोग करने के लिये अनुप्रेरित किया। उनकी कहानियों का अपना पृथक् और सर्वथा मौलिक शिल्प है, उनके चरित्र-चित्रण का, भाषा-सौष्ठव का, वाक्यगठन का एक सर्वथा निजी प्रतिष्ठान है। उनके नाटकों में भी इसी प्रकार के अभिनव और 'लाघ्य प्रयोग मिलते हैं। अभिनेयता को दृष्टि में रखकर उनकी बहुत आलोचना की गई तो उन्होंने एक बार कहा भी था कि रंगमंच नाटक के अनुकूल होना चाहिये न कि नाटक रंगमंच के अनुकूल। उनका यह कथन ही नाटक रचना के आन्तरिक विधान को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्व कर देता है।

कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास-सभी क्षेत्रों में प्रसाद जी एक नवीन 'स्कूल' और नवीन जीवन-दर्शन की स्थापना करने में सफल हुए हैं। वे 'छायावाद' के संस्थापकों और उन्नायकों में से एक हैं। वैसे सर्वप्रथम कविता के क्षेत्र में इस नव-अनुभूति के वाहक वही रहे हैं और प्रथम विरोध भी उन्हीं को सहना पड़ा है। भाषा शैली और शब्द-विन्यास के निर्माण के लिये जितना संघर्ष प्रसाद जी को करना पड़ा है, उतना दूसरों को नही।

आरम्भिक रचनाएँ

कहा जाता है कि नौ वर्ष की अवस्था में ही जयशंकर प्रसाद ने 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखकर अपने गुरु रसमयसिद्ध को दिखाया था। उनकी आरम्भिक रचनाएँ यद्यपि ब्रजभाषा में मिलती हैं। पर क्रमशः वे खड़ी बोली को अपनाते गए और इस समय उनकी ब्रजभाषा की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही है। प्रसाद की ही प्रेरणा से 1909 ई. में उनके भांजे अम्बिका प्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व में 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। प्रसाद इसमें नियमित रूप से लिखते रहे और उनकी आरम्भिक रचनाएँ इसी के अंकों में देखी जा सकती हैं।

कालक्रम के अनुसार 'चित्रधार' प्रसाद का प्रथम संग्रह है। इसका प्रथम संस्करण 1918 ई. में हुआ। इसमें कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध सभी का संकलन था और भाषा ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों थी। लगभग दस वर्ष के बाद 1928 में जब इसका दूसरा संस्करण आया, तब इसमें ब्रजभाषा की रचनाएँ ही रखी गयीं। साथ ही इसमें प्रसाद की आरम्भिक कथाएँ भी संकलित हैं। 'चित्रधार' की कविताओं को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक खण्ड उन आख्यानक कविताओं अथवा कथा काव्यों का है, जिनमें प्रबन्धात्मकता है। अयोध्या का उद्धार, वनमिलन और प्रेमराज्य तीन कथाकाव्य इसमें संग्रहीत हैं। 'अयोध्या का उद्धार' में लव द्वारा अयोध्या को पुनः बसाने की कथा है। इसकी प्रेरणा कालिदास का 'रघुवंश' है। 'वनमिलन' में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' की प्रेरणा है। 'प्रेमराज्य' की कथा ऐतिहासिक है। 'चित्रधार' की स्फुट रचनाएँ प्रकृति विषयक तथा भक्ति और प्रेमसम्बन्धिनी है। 'कानन कुसुम' प्रसाद की खड़ीबोली की कविताओं का प्रथम संग्रह है। यद्यपि इसके प्रथम संस्करण में ब्रज और खड़ी बोली दोनों की कविताएँ हैं, पर दूसरे संस्करण (1918 ई.) तथा तीसरे संस्करण (1929 ई.) में अनेक परिवर्तन दिखायी देते हैं और अब उसमें केवल खड़ीबोली की कविताएँ हैं। कवि के

अनुसार यह 1966 वि. (सन् 1909 ईसवी) से 1974 वि. (सन् 1917 ईसवी) तक की कविताओं का संग्रह है। इसमें भी ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखी गयी कुछ कविताएँ हैं।

रचनाएँ

प्रसाद जी की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है-

कामायनी

कामायनी महाकाव्य कवि प्रसाद की अक्षय कीर्ति का स्तम्भ है। भाषा, शैली और विषय-तीनों ही की दृष्टि से यह विश्व-साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा मानव के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रस्तुत किया है तथा मानव जीवन में श्रद्धा और बुद्धि के समन्वित जीवन-दर्शन को प्रतिष्ठा प्रदान की है।

आँसू

आँसू कवि के मर्मस्पर्शी वियोगपरक उदगारों का प्रस्तुतीकरण है।

लहर

यह मुक्तक रचनाओं का संग्रह है।

झरना

प्रसाद जी की छायावादी शैली में रचित कविताएँ इसमें संग्रहीत हैं।

चित्रधार

चित्रधार प्रसाद जी की ब्रज में रची गयी कविताओं का संग्रह है।

गद्य रचनाएँ

प्रसाद जी की प्रमुख गद्य रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

नाटक

चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, एक घूँट, विशाख, अजातशत्रु आदि।

कहानी-संग्रह

प्रतिध्वनि, छाया, आकाशदीप, आँधी तथा इन्द्रजाल आपके कहानी संग्रह हैं।

उपन्यास

तितली और कंकाल।

निबन्ध

काव्य और कला।

अन्य रचनाएँ

अन्य कविताओं में विनय, प्रकृति, प्रेम तथा सामाजिक भावनाएँ हैं। 'कानन कुसुम' में प्रसाद ने अनुभूति और अभिव्यक्ति की नयी दिशाएँ खोजने का प्रयत्न किया है। इसके अनन्तर कथाकाव्यों का समय आया है। 'प्रेम पथिक' का ब्रजभाषा स्वरूप सबसे पहले 'इन्दू' (1909 ई.) में प्रकाशित हुआ था और 1970 वि. में कवि ने इसे खड़ी बोली में रूपान्तरित किया। इसकी विज्ञप्ति में उन्होंने स्वयं कहा है कि 'यह काव्य ब्रजभाषा में आठ वर्ष पहले मैंने लिखा था।' 'प्रेम पथिक' में एक भावमूलक कथा है। जिसके माध्यम से आदर्श प्रेम की व्यंजना की गयी है।

प्रकाशन

'करुणालय' की रचना गीतिनाट्य के आधार पर हुई है। इसका प्रथम प्रकाशन 'इन्दु' (1913 ई.) में हुआ। 'चित्रधार' के प्रथम संस्करण में भी यह है। 1928 ई. में इसका पुस्तक रूप में स्वतन्त्र प्रकाशन हुआ। इसमें राजा हरिश्चन्द्र की कथा है। 'महाराणा का महत्त्व' 1914 ई. में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। यह भी 'चित्रधार' में संकलित था, पर 1928 ई. में इसका स्वतन्त्र प्रकाशन हुआ। इसमें महाराणा प्रताप की कथा है। 'झरना' का प्रथम प्रकाशन 1918 में हुआ था। आगामी संस्करणों में कुछ परिवर्तन किए गए। इसकी अधिकांश कविताएँ 1914-1917 के बीच लिखी गयीं, यद्यपि कुछ रचनाएँ बाद की भी प्रतीत होती हैं। 'झरना' में प्रसाद के व्यक्तित्व का प्रथम बार स्पष्ट प्रकाशन हुआ है और इसमें आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों को अधिक मुखर रूप में देखा जा सकता है। इसमें

छायावाद युग का प्रतिष्ठापन माना जाता है। 'आँसू' प्रसाद की एक विशिष्ट रचना है। इसका प्रथम संस्करण 1982 वि. (1925 ई) में निकला था। दूसरा संस्करण 1990 वि. (1933 ई.) में प्रकाशित हुआ। 'आँसू' एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य है, जिसमें कवि की प्रेमानुभूति व्यजित है। इसका मूलस्वर विषाद का है। पर अन्तिम पंक्तियों में आशा-विश्वास के स्वर हैं। 'लहर' में प्रसाद की सर्वोत्तम कविताएँ संकलित हैं। इसमें कवि की प्रौढ़ रचनाएँ हैं। इसका प्रकाशन 1933 ई. में हुआ। 'कामायनी' प्रसाद का निबन्ध काव्य है। इसका प्रथम संस्करण 1936 ई. में प्रकाशित हुआ था। कवि का गौरव इस महाकाव्य की रचना से बहुत बढ़ गया। इसमें आदि मानव मनु की कथा है, पर कवि ने अपने युग के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है।

पक्ष

प्रसाद जी के काव्य की भावपक्षीय तथा कलापक्षीय विशेषताएँ निम्नवत् हैं-

भाव पक्ष

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमंद पिये
अलकों में मलयज बंद किये
तू अब तक सोई है आली
आँखों में भरे विहाग री।

प्रसाद जी की रचनाओं में जीवन का विशाल क्षेत्र समाहित हुआ है। प्रेम, सौन्दर्य, देश-प्रेम, रहस्यानुभूति, दर्शन, प्रकृति चित्रण और धर्म आदि विविध विषयों को अभिनव और आकर्षक भंगिमा के साथ आपने काव्यप्रेमियों के सम्मुख प्रस्तुत किया है। ये सभी विषय कवि की शैली और भाषा की असाधारणता के कारण अछूते रूप में सामने आये हैं। प्रसाद जी के काव्य साहित्य

में प्राचीन भारतीय संस्कृति की गरिमा और भव्यता बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत हुई है। आपके नाटकों के गीत तथा रचनाएँ भारतीय जीवन मूल्यों को बड़ी शालीनता से उपस्थित करती हैं। प्रसाद जी ने राष्ट्रीय गौरव और स्वाभिमान को अपने साहित्य में सर्वत्र स्थान दिया है। आपकी अनेक रचनाएँ राष्ट्र प्रेम की उत्कृष्ट भावना जगाने वाली हैं। प्रसाद जी ने प्रकृति के विविध पक्षों को बड़ी सजीवता से चित्रित किया है। प्रकृति के सौम्य-सुन्दर और विकृत-भयानक, दोनों स्वरूप उनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त प्रकृति का आलंकारिक, मानवीकृत, उद्दीपक और उपदेशिका स्वरूप भी प्रसादजी के काव्य में प्राप्त होता है। 'प्रसाद' प्रेम और आनन्द के कवि हैं। प्रेम-मनोभाव का बड़ा सूक्ष्म और बहुविध निरूपण आपकी रचनाओं में हुआ है। प्रेम का वियोग-पक्ष और संयोग-पक्ष, दोनों ही पूर्ण छवि के साथ विद्यमान हैं। 'आँसू' आपका प्रसिद्ध वियोग काव्य है। उसके एक-एक छन्द में विरह की सच्ची पीड़ा का चित्र विद्यमान है, यथा-

जो धनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति-सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर, वह आज बरसने आयी।।

प्रसादजी का सौन्दर्य वर्णन भी सजीव, सटीक और मनमोहक होता है। श्रद्धा के सौन्दर्य का एक शब्द चित्र दर्शनीय है-

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।।

'प्रसाद' हिन्दी काव्य में छायावादी प्रवृत्ति के प्रवर्तक हैं। 'आँसू' और 'कामायनी' आपके छायावादी कवित्व के परिचायक हैं। छायावादी काव्य की सभी विशेषताएँ आपकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं।

प्रसादजी भावों के तीव्रता और मूर्तता प्रदान करने के लिए प्रतीकों का सटीक प्रयोग करते हैं। प्रसाद का काव्य मानव जीवन को पुरुषार्थ और आशा का संदेश देता है। प्रसाद का काव्य मानवता के समग्र उत्थान और चेतना का प्रतिनिधि है। उसमें मानव कल्याण के स्वर हैं। कवि 'प्रसाद' ने अपनी रचनाओं में नारी के विविध, गौरवमय स्वरूपों के अभिनव चित्र उपस्थित किए हैं।

कला पक्ष

'प्रसाद' के काव्य का कलापक्ष भी पूर्ण सशक्त और संतुलित है। उनकी भाषा, शैली, अलंकरण, छन्द-योजना, सभी कुछ एक महाकवि के स्तरानुकूल हैं।

भाषा

प्रसाद जी की भाषा के कई रूप उनके काव्य की विकास यात्रा में दिखाई पड़ते हैं। आपने आरम्भ ब्रजभाषा से किया और फिर खड़ीबोली को अपनाकर उसे परिष्कृत, प्रवाहमयी, संस्कृतनिष्ठ भाषा के रूप में अपनी काव्य भाषा बना लिया। प्रसाद जी का शब्द चयन ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से भी समन्वित है, यथा–

खग कुल कुल कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।

प्रसाद जी ने लाक्षणिक शब्दावली के प्रयोग द्वारा अपनी रचनाओं में मार्मिक सौन्दर्य की सृष्टि की है।

शैली

प्रसाद जी की काव्य शैली में परम्परागत तथा नव्य अभिव्यक्ति कौशल का सुन्दर समन्वय है। उसमें ओज, माधुर्य और प्रसाद–तीनों गुणों की सुसंगति है। विषय और भाव के अनुकूल विविध शैलियों का प्रौढ़ प्रयोग उनके काव्य में प्राप्त होता है। वर्णनात्मक, भावात्मक, आलंकारिक, सूक्तिपरक, प्रतीकात्मक आदि शैली–रूप उनकी अभिव्यक्ति को पूर्णता प्रदान करते हैं। वर्णनात्मक शैली में शब्द चित्रंकन की कुशलता दर्शनीय होती है।

अलंकरण

प्रसाद जी की दृष्टि साम्यमूलक अलंकारों पर ही रही है। शब्दालंकार अनायास ही आए हैं। रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीक आदि आपके प्रिय अलंकार हैं।

छन्द

प्रसाद जी ने विविध छन्दों के माध्यम से काव्य को सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। भावानुसार छन्द–परिवर्तन 'कामायनी' में दर्शनीय है। 'आँसू' के छन्द उसके विषय में सर्वधा अनुकूल हैं। गीतों का भी सफल प्रयोग प्रसादजी ने किया है। भाषा की तत्समता, छन्द की गेयता और लय को प्रभावित नहीं करती है। 'कामायनी' के शिल्पी के रूप में प्रसादजी न केवल हिन्दी साहित्य की अपितु विश्व साहित्य की विभूति हैं। आपने भारतीय संस्कृति के विश्वजनीन सन्दर्भो को प्रस्तुत किया है तथा इतिहास के गौरवमय पृष्ठों को समक्ष लाकर हर

भारतीय हृदय को आत्म-गौरव का सुख प्रदान किया है। हिन्दी साहित्य के लिए प्रसाद जी माँ सरस्वती का प्रसाद हैं।

छायावाद की स्थापना

जयशंकर प्रसाद ने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की सिद्ध भाषा बन गई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं, अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखनेवाले श्रेष्ठ कवि भी बने। काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकाव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है, जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद ओर खड़ी बोली की काव्यगरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रानन्दन पंत इसे 'हिंदी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषासौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है। जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने लाते हुए अविस्मरनीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

निधन

जयशंकर प्रसाद जी का देहान्त 15 नवम्बर, सन् 1937 ई. में हो गया। प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है और 'आँसू' ने उनके हृदय की उस पीड़ा को शब्द दिए, जो उनके जीवन में अचानक मेहमान बनकर आई और हिन्दी भाषा को समृद्ध कर गई।

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ, उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां– सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी– परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट

ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानयी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट

परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकाँक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों

से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था, इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं, जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं, परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है। उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन

दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधाराके अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत की गई। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं– अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधारलेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान् सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य– कृत 'हैदर

अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियाँ हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती है।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929) और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अँगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों–बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की

स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में शृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः ह्रास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ, प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियाँ का जूता मियाँ के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ, परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएँ हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं– मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है, किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी, जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं

की ओर अवश्य लिखे गये, किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसाद-युग में निबंध लेखन

प्रसाद युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल है। क्या कविता, क्या गद्य दोनों का विकास इस काल में ऊँचे शिखर पर पहुंचा। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना सभी का खूब विकास हुआ। वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों की रचना बहुत कम हुई, विचारात्मक और भावात्मक की अधिक। इन दोनों प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध इसी युग में लिखे गए। विचारात्मक निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भावात्मक निबन्धकारों में डॉ. रघुवीर सिंह, सिरमौर हैं। गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि और रायकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

गुलाबराय जी के सामने द्विवेदी-युग का सारा साहित्य-भण्डार था। इनके साहित्य का बहुत कुछ रंग द्विवेदी-युग का रहा। यह निबन्धकार पहले हैं, आलोचक बाद में। 'फिर निराशा क्यों? 'मेरी असफलताएँ', 'अंधेरी कोठरी' इनके निबन्ध संग्रह हैं। 'मेरी असफलताएँ' आत्मपरक या वैयक्तिक व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है। शेषदोनों संग्रहों में विचारात्मक निबन्ध हैं। अन्तिम संग्रह मनोवैज्ञानिक निबन्धों का है। आपकी भाषा बड़ी सरल और सुबोध होती है। विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक में भाषा या भाव की उलझन नहीं मिलेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विचारात्मक निबन्धों में शुक्ल जी के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें विचारों की बारीकी और गंभीरता, भावों की मनोवैज्ञानिकता, भाषा का गठन और उसकी शक्ति आदि आदर्श हैं। 'चिन्तामणि' में 'क्रोध', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रीति', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'भय', 'करुणा', 'घृणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' आदि विषयों पर लिखे निबन्ध मानसिक भावों, वृत्तियों और विचारों से सम्बन्ध रखते हैं। 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्रय' साहित्यिक व्याख्या और विश्लेषण सम्बन्धी हैं और 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि

साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहरावा' परिचयात्मक वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का विवेचन करते हुए वे राजनीति, समाजनीति, धर्म, पारस्परिक व्यवहार आदि पर भी यह अपने मौलिक विचार प्रकट करते चलते हैं। इन निबन्धों की शैली में लेखक का गहन ज्ञान और गम्भीर व्यक्तित्व प्रकट होता है। थोड़े शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने की शक्ति इनमें है। जो उच्च स्थान इनका आलोचक के रूप में है, वही निबन्धकार के रूप में भी है। लोक मंगल की भावना भी इनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है।

छायावाद-युग के कवियों ने भी कुछ रेखाचित्र, संस्मरण और ललित निबन्धों की सम्मिश्रित विधा में रचनाएँ की हैं। ऐसी रचनाओं में महादेवी वर्मा की ये पुस्तकें उल्लेखनीय मानी जाती हैं–'स्मृति की रेखाएँ', 'अतीत के चलचित्र' तथा 'शृंखला की कड़ियां'। इनके अतिरिक्त गम्भीर विचारपूर्ण निबन्धों के लेखक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'को भी नहीं भुलाया जा सकता। उसके तीन निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'पृथिवी पुत्र' में आपने एक स्थान पर कहा है–''विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही बाहर उंडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करना चाहिए।" ये भारतीयता के पुजारी और पक्ष-पोषक थे। 'कला संस्कृति' में प्राचीन और नवीन भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों के विषय में निबन्ध हैं। इन्होंने 'समुद्र-मंथन', 'कल्पवृक्ष' आदि की व्याख्या नवीन वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। आपके सभी निबन्ध विचारात्मक हैं।

निबन्ध-लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी को भी नहीं भुलाया जा सकता। 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'पदचि'' 'युग और साहित्य', 'परिव्राजक की प्रथा' इनकी पुस्तकें हैं। गांधीवादी नैतिकता और छायावादी भाषा रचनाओं की विशेषता है। 'धरातल' में आप अपने को समाजवाद का हिमायती बताते हैं। इस संग्रह में जीवन की समस्याओं का भौतिक समाधान खोजा गया है। विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं। हिन्दी निबन्ध-साहित्य को इनकी देन है इनके वैयक्तिक निबन्ध। इस क्षेत्र में यह अद्वितीय है। अपने माता-पिता-बहन के जो चित्र इन्होंने खींचे हैं उनमें करुणा की नमी है और हृदय

को स्पर्श करने वाली सच्चाई। इनके ये अनुपम वैयक्तिक निबन्ध 'पदचि' और 'परिव्राजक की प्रथा' में संगृहीत हैं। आप काव्यमय, कोमल-कान्त भाषा का प्रयोग करते हैं।

डॉ. रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि ने भावात्मक निबन्ध लिखे। रघुवीर सिंह और माखनलाल जी के निबन्ध काफी बड़े हैं, शेष दोनों के बहुत छोटे-छोटे एक डेढ़ पृष्ठ के। इनके निबन्धों की शैली अन्य निबन्धकारों की शैली से भिन्न हैं—छोटे-छोटे वाक्य, कहीं खण्डित, कहीं अपूर्ण। आश्चर्य, शोक, करुणा, प्रेम का आवेश इसमें उमड़ता सा दिखता है, ऐसी रचनाओं को हिन्दी गद्य काव्य का नाम दिया गया है। हम इन्हें निबन्ध मानते हैं। गद्य-काव्य के भीतर तो कहानी, नाटक, उपन्यास, शब्दचित्र, निबन्ध, आलोचना, सभी कुछ सम्मिलित हैं।

रघुवीर सिंह इतिहास के विद्वान हैं। मुगलकालीन घटनाओं, इमारतों, चरित्रों को लेकर इन्होंने 'अतीत स्मृति' और 'शेष स्मृतियाँ' दो पुस्तकें लिखी। वैसे तो इन निबन्धों में वर्णन और विवरण है, फिर भी ये भावात्मक हैं। क्योंकि लेखक ने इनमें वर्णन को महत्त्व नहीं दिया, इनको देखकर अपने हृदय में उठने वाले भावों को ही प्रकाशित किया है।

माखनलाल जी ने विचार-प्रधान निबन्धों को भी भावात्मक शैली में लिखा। 'युग और कला', 'साहित्य देवता', 'रंगों की बोली', 'व्यक्तित्व' आदि निबन्ध—कला, साहित्य, चित्रकला और व्यक्तित्व विषयों पर हैं, ये विचारात्मक हो सकते हैं, लेकिन विचार भी प्रभावात्मक ढंग से दिये गये हैं। लेखक की मुग्धता, श्रद्धा, करुणा, सहानुभूति ही इसमें प्रकट हुई है।

वियोगी हरि और रायकृष्णदास जी की रचनाओं में भक्ति, प्रेम, विस्मय, पश्चाताप, आत्म-निवेदन, मनोमुग्धता, करुणा, संवेदना आदि अनेक भाव और भावना प्रकट हुई हैं। 'भावना' और 'अन्तर्नाद' वियोगी हरि की और 'साधना' रायकृष्ण दास की पुस्तक है। इन सभी निबन्धकारों ने उर्दू शब्दों का भी यथावसर प्रयोग किया है।

प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद ने 1898 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। B.A करने के बाद मुंशी प्रेमचंद शिक्षा विभाग के

इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हो गए। मुंशी प्रेमचंद का पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार 15 साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा 1926 में इन्होंने विधवा विवाह का समर्थन करते हुए बाल विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया। उनसे तीन संताने हुई श्रीपत राय अमृतराय और कमला देवी श्रीवास्तव 1910 में उनकी रचना सोजे वतन के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया तो जीवन की सभी प्रतियां जब्त कर नष्ट कर दी गई इस समय तक प्रेमचंद नवाब राय नाम से उर्दू में लिखते थे उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के संपादक और उनके दोस्त मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी इसके बाद वे प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे।

मुंशी प्रेमचंद रचनाओं में सबसे पहले आते हैं उनके उपन्यास गोदान 1936 गबन 1931 सेवा सदन 1918 कर्मभूमि 1920 वरदान 1921 प्रेमाश्रम 1921 रंगभूमि 1925 निर्मला 1927 प्रतिज्ञा कायाकल्प 1926 मंगलसूत्र 1948 में लिखा था।

प्रेमचंद की कहानियाँ इस प्रकार से है पँच परमेश्वर, कफन, नमक का दरोगा, बूढ़ी काकी, नशा, परीक्षा, ईदगाह, बड़े घर की बेटी, सुजान भगत, शतरंज के खिलाड़ी, माता का हृदय, मिस पदमा, बलिदान, दो बैलो की कथा, तथा पूस की रात, सौत कजाकी, प्रेमचंद की पहली कहानी संसार का अनमोल रत्न 1960 में जमाना पत्रिका में प्रकाशित की गयी थी।

प्रेमचंद के उपन्यास भारत और दुनिया की कई भाषाओं में अनुदित कोई खास कर उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास गोदान सेवा सदन एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। प्रेमाश्रम किसान जीवन पर लिखा हिंदी का संभवत पहला उपन्यास है यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया रंगभूमि में प्रेमचंद एक अंधे विकारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात कर चुके थे गोदान का हिंदी साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है प्रेमचंद ने सेवा सदन 1918 उपन्यास से हिंदी उपन्यास की दुनिया में प्रवेश किया यह मूल रूप से उन्होंने बाजार ए हुस्न नाम से पहले उर्दू में लिखा इसका हिंदी रूप सेवा सदन पहले प्रकाशित कराया।

जीवन परिचय

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी के निकट लमही गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। लमही, उत्तर प्रदेश राज्य के बनारस शहर

के नजदीक ही लगभग चार मिल दूर स्थित हैं। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था तथा पिता मुंशी अजायबराय लमही में डाकमुंशी थे। उनकी शिक्षा का आरंभ उर्दू, फारसी से हुआ और जीवनयापन का अध्यापन से। पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही लग गया। 13 साल की उम्र में ही उन्होंने तिलिस्म-ए-होशरुबा पढ़ लिया और उन्होंने उर्दू के मशहूर रचनाकार रतननाथ 'शरसार', मिर्जा हादी रुस्वा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया। 1898 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी।1910 में उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फारसी और इतिहास लेकर इंटर पास किया और 1919 में बी.ए. पास करने के बाद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए।

सात वर्ष की अवस्था में उनकी माता तथा चौदह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनका प्रारंभिक जीवन संघर्षमय रहा। उनका पहला विवाह पंद्रह साल की उम्र में हुआ, जो सफल नहीं रहा। वे आर्य समाज से प्रभावित रहे, जो उस समय का बहुत बड़ा धार्मिक और सामाजिक आंदोलन था। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया और 1906 में दूसरा विवाह अपनी प्रगतिशील परंपरा के अनुरूप बाल-विधवा शिवरानी देवी से किया। उनकी तीन संताने हुई- श्रीपत राय, अमृत राय और कमला देवी श्रीवास्तव। 1910 में उनकी रचना सोजे-वतन (राष्ट्र का विलाप) के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया और उन पर जनता को भड़काने का आरोप लगाया। सोजे-वतन की सभी प्रतियाँ जब्त कर नष्ट कर दी गईं। कलेक्टर ने नवाबराय को हिदायत दी कि अब वे कुछ भी नहीं लिखेंगे, यदि लिखा तो जेल भेज दिया जाएगा। इस समय तक प्रेमचंद, धनपत राय नाम से लिखते थे। उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के सम्पादक और उनके अजीज दोस्त मुंशी दयानारायण निगम की सलाह से वे प्रेमचंद नाम से लिखने लगे। उन्होंने आरंभिक लेखन जमाना पत्रिका में ही किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उनका उपन्यास मंगलसूत्र पूरा नहीं हो सका और लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया। उनका अंतिम उपन्यास मंगल सूत्र उनके पुत्र अमृतराय ने पूरा किया।

कार्यक्षेत्र

प्रेमचंद आधुनिक हिन्दी कहानी के पितामह और उपन्यास सम्राट माने जाते हैं। यों तो उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ 1901 से हो चुका था, पर उनकी

पहली हिन्दी कहानी सरस्वती पत्रिका के दिसम्बर अंक में 1915 में सौत नाम से प्रकाशित हुई और 1936 में अंतिम कहानी कफन नाम से प्रकाशित हुई। उनसे पहले हिंदी में काल्पनिक, एय्यारी और पौराणिक धार्मिक रचनाएँ ही की जाती थी। प्रेमचंद ने हिंदी में यथार्थवाद की शुरूआत की।' भारतीय साहित्य का बहुत सा विमर्श जो बाद में प्रमुखता से उभरा चाहे वह दलित साहित्य हो या नारी साहित्य उसकी जड़ें कहीं गहरे प्रेमचंद के साहित्य में दिखाई देती हैं।' प्रेमचंद के लेख 'पहली रचना' के अनुसार उनकी पहली रचना अपने मामा पर लिखा व्यंग्य थी, जो अब अनुपलब्ध है। उनका पहला उपलब्ध लेखन उनका उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' है। प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ।

इसके बाद प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे-वतन नाम से आया, जो 1908 में प्रकाशित हुआ। देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत होने के कारण इस पर अंग्रेजी सरकार ने रोक लगा दी और इसके लेखक को भविष्य में इस तरह का लेखन न करने की चेतावनी दी। इसके कारण उन्हें नाम बदलकर लिखना पड़ा। 'प्रेमचंद' नाम से उनकी पहली कहानी बड़े घर की बेटी जमाना पत्रिका के दिसम्बर 1910 के अंक में प्रकाशित हुई। मरणोपरांत उनकी कहानियाँ मानसरोवर नाम से 8 खंडों में प्रकाशित हुईं। कथा सम्राट प्रेमचन्द का कहना था कि साहित्यकार देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है। यह बात उनके साहित्य में उजागर हुई है। 1921 में उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर अपनी नौकरी छोड़ दी। कुछ महीने मर्यादा पत्रिका का संपादन भार संभाला, छह साल तक माधुरी नामक पत्रिका का संपादन किया, 1930 में बनारस से अपना मासिक पत्र हंस शुरू किया और 1932 के आरंभ में जागरण नामक एक साप्ताहिक और निकाला। उन्होंने लखनऊ में 1936 में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन की अध्यक्षता की। उन्होंने मोहन दयाराम भवनानी की अजंता सिनेटोन कंपनी में कहानी-लेखक की नौकरी भी की। 1934 में प्रदर्शित मजदूर नामक फिल्म की कथा लिखी और कॉन्ट्रेक्ट की साल भर की अवधि पूरी किये बिना ही दो महीने का वेतन छोड़कर बनारस भाग आये। उन्होंने मूल रूप से हिंदी में 1915 से कहानियाँ लिखना और 1918 (सेवासदन) से उपन्यास लिखना शुरू किया।

उपन्यास

प्रेमचंद का पहला उर्दू उपन्यास (अपूर्ण) 'असरारे मआबिद उर्फ' 'देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'आवाज-ए-खल्क' में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। चूंकि प्रेमचंद मूल रूप से उर्दू के लेखक थे और उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए उनके सभी आरंभिक उपन्यास मूल रूप से उर्दू में लिखे गए और बाद में उनका हिन्दी तर्जुमा किया गया।

असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'आवाज-ए-खल्क' में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक प्रकाशित।

सेवासदन (1918)- यह मूल रूप से उन्होंने 'बाजारे-हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा गया लेकिन इसका हिंदी रूप 'सेवासदन' पहले प्रकाशित हुआ। यह एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। डॉ रामविलास 'शर्मा सेवासदन' की मुख्य्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता को मानते हैं।

प्रेमाश्रम (1922)- यह किसान जीवन पर उनका पहला उपन्यास है। इसका मसौदा भी पहले उर्दू में 'गोशाए-आफियत' नाम से तैयार हुआ था, लेकिन इसे पहले हिंदी में प्रकाशित कराया। यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया।

रंगभूमि (1925)- इसमें प्रेमचंद एक अंधे भिखारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात करते हैं।

निर्मला (1925)

कायाकल्प (1927)

गबन (1928)

कर्मभूमि (1932)

गोदान (1936)

मंगलसूत्र (अपूर्ण)- यह प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास है।

कहानी

इनकी अधिकतर कहानियाँ में निम्न व मध्यम वर्ग का चित्रण है। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद की संपूर्ण हिंदी-उर्दू कहानी को प्रेमचंद कहानी रचनावली नाम से प्रकाशित कराया है। उनके अनुसार प्रेमचंद ने कुल 301

कहानियाँ लिखी हैं। जिनमें 3 अभी अप्राप्य हैं। प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे वतन नाम से जून 1908 में प्रकाशित हुआ। इसी संग्रह की पहली कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रतन को आम तौर पर उनकी पहली प्रकाशित कहानी माना जाता रहा है। डॉ. गोयनका के अनुसार कानपुर से निकलने वाली उर्दू मासिक पत्रिका जमाना के अप्रैल अंक में प्रकाशित सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम (इश्के दुनिया और हुब्बे वतन) वास्तव में उनकी पहली प्रकाशित कहानी है। प्रेमचंद की प्रमुख कहानियाँ-

'पंच परमेश्वर',
'गुल्ली डंडा',
'दो बैलों की कथा',
'ईदगाह',
'बड़े भाई साहब',
'पूस की रात',
'ठाकुर का कुआँ',
'सद्गति',
'बूढ़ी काकी',
'तावान',
'विध्वंस',
'दूध का दाम',
'मंत्र'
'कफन'

कहानी संग्रह-

'सप्त सरोज',
'नवनिधि',
'प्रेमपूर्णिमा',
'प्रेम-पचीसी',
'प्रेम-प्रतिमा',
'प्रेम-द्वादशी',
'समरयात्रा',

'मानसरोवर'– भाग एक व दो और 'कफन'। उनकी मृत्यु के बाद उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' शीर्षक से 8 भागों में प्रकाशित हुई।

प्रेमचंद जी की लोकप्रिय कहानियाँ

नाटक
संग्राम (1923),
कर्बला (1924)
प्रेम की वेदी (1933)

ये नाटक शिल्प और संवेदना के स्तर पर अच्छे हैं, लेकिन उनकी कहानियों और उपन्यासों ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी कि नाटक के क्षेत्र में प्रेमचंद को कोई खास सफलता नहीं मिली। ये नाटक वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गए हैं।

लेख-निबंध

अमृतराय द्वारा संपादित 'प्रेमचंद– विविध प्रसंग' (तीन भाग) वास्तव में प्रेमचंद के लेखों का ही संकलन है। प्रेमचंद के लेख प्रकाशन संस्थान से 'कुछ विचार' शीर्षक से भी छपे हैं। उनके प्रसिद्ध लेख हैं-

साहित्य का उद्देश्य,
पुराना जमाना नया जमाना,
स्वराज के फायदे,
कहानी कला (1,2,3),
कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार,
हिंदी-उर्दू की एकता,
महाजनी सभ्यता,
उपन्यास,
जीवन में साहित्य का स्थान।

अनुवाद

प्रेमचंद एक सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने दूसरी भाषाओं के जिन लेखकों को पढ़ा और जिनसे प्रभावित हुए, उनकी कृतियों का अनुवाद भी किया। 'टॉलस्टॉय की कहानियाँ' (1923), गाल्सवर्दी के तीन नाटकों का हड़ताल (1930), चाँदी की डिबिया (1931) और न्याय (1931) नाम से अनुवाद

किया। उनके द्वारा रतननाथ सरशार के उर्दू उपन्यास फसान-ए-आजाद का हिंदी अनुवाद आजाद कथा बहुत मशहूर हुआ।

जीवनी

प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने प्रेमचंद घर लिखी और उनके व्यक्तित्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1944 में पहली बार प्रकाशित हुई थी, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में इसके महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसे दुबारा 2005 में संशोधित करके प्रकाशित की गई, इस काम को उनके ही नाती प्रबोध कुमार ने अंजाम दिया। इसका अंग्रेजी व हसन मंजर का किया हुआ उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उनके ही बेटे अमृत राय ने कलम का सिपाही नाम से पिता की जीवनी लिखी है।

विविध

बाल साहित्य– रामकथा, कुत्ते की कहानी
विचार– प्रेमचंद– विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)
संपादन– मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण

समालोचना

प्रेमचन्द उर्दू का संस्कार लेकर हिन्दी में आए थे और हिन्दी के महान लेखक बने। हिन्दी को अपना खास मुहावरा और खुलापन दिया। कहानी और उपन्यास दोनो में युगान्तरकारी परिवर्तन किए। उन्होंने साहित्य में सामयिकता प्रबल आग्रह स्थापित किया। आम आदमी को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया और उसकी समस्याओं पर खुलकर कलम चलाते हुए, उन्हें साहित्य के नायकों के पद पर आसीन किया। प्रेमचंद से पहले हिंदी साहित्य राजा-रानी के किस्सों, रहस्य-रोमांच में उलझा हुआ था। प्रेमचंद ने साहित्य को सच्चाई के धरातल पर उतारा। उन्होंने जीवन और कालखंड की सच्चाई को पन्ने पर उतारा। वे सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, जमींदारी, कर्जखोरी, गरीबी, उपनिवेशवाद पर आजीवन लिखते रहे। प्रेमचन्द की ज्यादातर रचनाएँ उनकी ही गरीबी और दैन्यता की कहानी कहती है। ये भी गलत नहीं है कि वे आम भारतीय के रचनाकार

थे। उनकी रचनाओं में वे नायक हुए, जिसे भारतीय समाज अछूत और घृणित समझा था। उन्होंने सरल, सहज और आम बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया और अपने प्रगतिशील विचारों को दृढ़ता से तर्क देते हुए समाज के सामने प्रस्तुत किया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा कि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है और जो ऐसा नहीं है वह लेखक नहीं है। प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की एक नई परंपरी शुरू की।

प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद

इतने महान रचनाकार होने के बावजूद प्रेमचंद का जीवन आरोपों से मुक्ष्त नहीं है। प्रेमचंद के अध्येता कमलकिशोर गोयनका ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद-अध्ययन की नई दिशाएं' में प्रेमचंद के जीवन पर कुछ आरोप लगाकर उनके साहित्य का महत्त्व कम करने की कोशिश की। प्रेमचंद पर लगे मुख्य आरोप हैं- प्रेमचंद ने अपनी पहली पत्नी को बिना वजह छोड़ा और दूसरे विवाह के बाद भी उनके अन्य किसी महिला से संबंध रहे (जैसा कि शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' में उर्द्धत किया है), प्रेमचंद ने 'जागरण विवाद' में विनोदशंकर व्यास के साथ धोखा किया, प्रेमचंद ने अपनी प्रेस के वरिष्ठ कर्मचारी प्रवासीलाल वर्मा के साथ धोखाधडी की, प्रेमचंद की प्रेस में मजदूरों ने हड़ताल की, प्रेमचंद ने अपनी बेटी के बीमार होने पर झाड़-फूंक का सहारा लिया आदि। कमलकिशोर गोयनका द्वारा लगाए गए ये आरोप प्रेमचंद के जीवन का एक पक्ष जरूर हमारे सामने लाते हैं। जिसमें उनकी इंसानी कमजोरियों जाहिर होती हैं लेकिन उनके व्यापक साहित्य के मूल्यांकन पर इन आरोपों का कोई असर नहीं पड़ पाया है। प्रेमचंद्र को लोग आज उनकी काबिलियत की वजह से याद करते हैं, जो विवादों को बहुत कम जगह देती है।

मुंशी के विषय में विवाद

मुंशी प्रेमचंद ने 1898 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। B.A करने के बाद मुंशी प्रेमचंद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हो गए, मुंशी प्रेमचंद का पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार 15 साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा 1926 में

इन्होंने विधवा विवाह का समर्थन करते हुए बाल विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह कियाद्य उनसे तीन संताने हुई, श्रीपत राय अमृतराय और कमला देवी श्रीवास्तव 1910 में उनकी रचना सोजे वतन के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया तो जीवन की सभी प्रतियां जब्त कर नष्ट कर दी गई। इस समय तक प्रेमचंद नवाब राय नाम से उर्दू में लिखे थे उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के संपादक और उनके दोस्त मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी इसके बाद वे प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे।

हंस के संपादक प्रेमचंद तथा कन्हैयालाल मुंशी थे, परन्तु कालांतर में पाठकों ने 'मुंशी' तथा 'प्रेमचंद' को एक समझ लिया और 'प्रेमचंद'- 'मुंशी प्रेमचंद' बन गए। यह स्वाभाविक भी है। सामान्य पाठक प्रायः लेखक की कृतियों को पढ़ता है, नाम की सूक्ष्मता को नहीं देखा करता। आज प्रेमचंद का मुंशी अलंकरण इतना रूढ़ हो गया है कि मात्र 'मुंशी' से ही प्रेमचंद का बोध हो जाता है तथा 'मुंशी' न कहने से प्रेमचंद का नाम अधूरा-अधूरा सा लगता है।

विरासत

प्रेमचंद ने अपनी कला के शिखर पर पहुँचने के लिए अनेक प्रयोग किए। जिस युग में प्रेमचंद ने कलम उठाई थी, उस समय उनके पीछे ऐसी कोई ठोस विरासत नहीं थी और न ही विचार और प्रगतिशीलता का कोई मॉडल ही उनके सामने था। लेकिन होते-होते उन्होंने गोदान जैसे कालजयी उपन्यास की रचना की जो कि एक आधुनिक क्लासिक माना जाता है। उन्होंने चीजों को खुद गढ़ा और खुद आकार दिया। जब भारत का स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तब उन्होंने कथा साहित्य द्वारा हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को जो अभिव्यक्ति दी उसने सियासी सरगर्मी को, जोश को और आंदोलन को सभी को उभारा और उसे ताकतवर बनाया और इससे उनका लेखन भी ताकतवर होता गया। प्रेमचंद इस अर्थ में निश्चित रूप से हिंदी के पहले प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं। 1936 में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन को सभापति के रूप में संबोधन किया था। उनका यही भाषण प्रगतिशील आंदोलन के घोषणा पत्र का आधार बना। प्रेमचंद ने हिन्दी में कहानी की एक परंपरा को जन्म दिया और एक पूरी पीढ़ी उनके कदमों पर आगे बढ़ी, 50-60 के दशक में रेणु, नागार्जुन और इनके बाद श्रीनाथ सिंह ने ग्रामीण परिवेश की कहानियाँ लिखी हैं, वो एक तरह से प्रेमचंद की परंपरा के तारतम्य में आती हैं। प्रेमचंद

एक क्रांतिकारी रचनाकार थे, उन्होंने न केवल देशभक्ति बल्कि समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों को देखा और उनको कहानी के माध्यम से पहली बार लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने उस समय के समाज की जो भी समस्याएँ थी, उन सभी को चित्रित करने की शुरुआत कर दी थी। उसमें दलित भी आते हैं, नारी भी आती हैं। ये सभी विषय आगे चलकर हिन्दी साहित्य के बड़े विमर्श बने। प्रेमचंद हिन्दी सिनेमा के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारों में से हैं। सत्यजित राय ने उनकी दो कहानियों पर यादगार फिल्में बनाई। 1977 में शतरंज के खिलाड़ी और 1981 में सद्गति। उनके देहांत के दो वर्षों बाद के सुब्रमण्यम ने 1938 में सेवासदन उपन्यास पर फिल्म बनाई जिसमें सुब्बालक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी। 1977 में मृणाल सेन ने प्रेमचंद की कहानी कफन पर आधारित ओका ऊरी कथा नाम से एक तेलुगू फिल्म बनाई जिसको सर्वश्रेष्ठ तेलुगू फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। 1963 में गोदान और 1966 में गबन उपन्यास पर लोकप्रिय फिल्में बनीं। 1980 में उनके उपन्यास पर बना टीवी धारावाहिक निर्मला भी बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रेमचंद संबंधी नए अध्ययन

हिंदी साहित्य व आलोचना में प्रेमचंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाता है परन्तु यह एक गलत धारणा है। दरअसल एक कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की लोकप्रियता उनके जीवनकाल में ही इतनी ज्यादा थी कि उन्हें 'उपन्यास सम्राट' कहा जाने लगा था। प्रेमचंद को स्थापित करने वाले उनके पाठक थे, आलोचक नहीं। प्रेमचंद के पत्रों को सहेजने का काम अमृतराय और मदनगोपाल ने किया। प्रेमचंद पर हुए नए अध्ययनों में कमलकिशोर गोयनका और डॉ. धर्मवीर का नाम उल्लेखनीय है। कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद के जीवन के कमजोर पक्षों को उजागर करने के साथ-साथ प्रेमचंद का अप्राप्य्य साहित्य (दो भाग) व श्प्रेमचंद विश्वकोश' (दो भाग) का संपादन भी किया है। डॉ. धर्मवीर ने दलित दृष्टि से प्रेमचंद साहित्य का मूलयांकन करते हुए प्रेमचंद– सामंत का मुंशी व प्रेमचंद की नीली आँखें नाम से पुस्तकें लिखी हैं।

पुरस्कार व सम्मान

प्रेमचंद की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 30 जुलाई 1980 को उनकी जन्मशती के अवसर पर 30 पैसे मूल्य का एक डाक

टिकट जारी किया गया। गोरखपुर के जिस स्कूल में वे शिक्षक थे, वहाँ प्रेमचंद साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। प्रेमचंद की 125वीं सालगिरह पर सरकार की ओर से घोषणा की गई कि वाराणसी से लगे इस गाँव में प्रेमचंद के नाम पर एक स्मारक तथा शोध एवं अध्ययन संस्थान बनाया जाएगा।

6

प्रसादोत्तर-युग

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं, परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था। राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया, परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मिद्धम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी, परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा

प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है, परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांति व्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएँ थी, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप जीवन में

आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्रायः इस प्रकार परितष्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यतः कोई दृष्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृष्य-परिवर्तन की सूचना यंत्र-तंत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं, जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं– 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में

व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा– सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं है। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त'

(1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी, परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने वालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं– 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती

है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएँ जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएँ प्रगतिशील एवं शसशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती, क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धि त तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तद्वंन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है, जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई, किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अद्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और

आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पाँच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं– 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्रयू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गई है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कफ्रर्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं, जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते

रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्रय की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन

शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमशः अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं–

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य साँप', रमेश बख्शी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'विंदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं– आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहाँ तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊंचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आस-पास चक्कर नहीं काटता, बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

प्रसाद-प्रेमचन्द युग में कहानी

सन् 1916 ई. के आस-पास प्रेमचन्द और प्रसाद कहानी के क्षेत्र में आए। इसके बाद हिन्दी कहानी पर अंग्रेजी और बंगला कहानीकारों का प्रभाव कम होने लगा। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु', 'हिन्दी गल्प-माला' आदि पत्रिकाओं का हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक विकास में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन पत्रिकाओं में सैकड़ों मौलिक और अनूदित कहानियाँ प्रकाशित हुई, जिनमें विविध विषय और शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहानी का वास्तविक विकास प्रेमचन्दके समय से ही प्रारम्भ होता है। उनके समय से ही आख्यायिका के स्थान पर सच्ची कहानी का प्रारम्भ हुआ। कहानी में घटना की प्रधानता के स्थान पर पात्र और भावना की प्रधानता हुई। वास्तविक मानव-जीवन और मनोविज्ञान से उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रसाद जीकहानी क्षेत्र में प्रेमचन्द से कुछ पहले आए थे। वे मूलत: कवि हैं और बाद में नाटककार। उनकी कहानियों में भी काव्यात्मकता और नाटकीयता है। उनकी कहानियों को लक्ष्य में रखते हुए उन्हें यथार्थपरक, आदर्शवादी या रोमांटिक आदर्शवादी कहा जा सकता है। प्रसाद की कहानियों के संग्रह हैं– 'प्रतिध्वनि', 'आकाश–दीप', 'आंधी', 'इन्द्रजाल' तथा

'छाया'। प्रसाद ने अधिकतर भावनाप्रधान, कल्पनापरक कहानियाँ लिखी, जो प्रायः सांस्कृतिक पृश्ठभूमि पर आधारित हैं। उन्होंने चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं। नाटकीयता, अर्थ की गंभीरता, भावुकतापूर्ण वातावरण, काव्यात्मक भाषा और सांकेतिक व्यंजना उनकी कहानियों की अन्य विशेषताएँ हैं। प्रसादप्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी थे।

प्रेमचन्द का आधुनिक काल के यथार्थवादी जीवन पर अधिक आग्रह था। वे यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' (6 भाग) तथा 'गुप्त धन' (2 भाग) में संगृहीत हैं। 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रतिमा', 'सप्तसुमन' आदि नामों से भी उनकी कहानियों के संग्रह छपे हैं। प्रेमचन्द की प्रारम्भ की कहानियों में घटना की प्रधानता और वर्णन की प्रवृत्ति है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। भाषा अपरिपक्व तथा व्याकरण– सम्बन्धी दोषों से युक्त है। वस्तुतः प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और वहाँ से हिन्दी में आए थे। उनकी प्रारम्भिक राष्ट्रीय कहानियाँ 'सोजे वतन' संग्रह में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर प्रेमचन्द ने चरित्र-प्रधान, मनोविज्ञान-मूलक, वातावरण-प्रध ान, ऐतिहासिक आदि कई प्रकार की कहानियाँ लिखीं और वास्तविक-जीवन तथा मानव-स्वभाव के मार्मिक चित्र र्प्रस्तुत किए। प्रेमचन्द की भाषा सरल, व्यावहारिक है और उनके संवाद स्वाभाविक तथा सजीव हैं। साधारण घटनाओं और बातों को मार्मिक बनाने में वे कुशल हैं। प्रेमचन्द नवीन जीवन-रुचि रखने वाले मानवतावादी लेखक थे। प्रारम्भ में प्रेमचन्द गांधी और ताल्स्ताय से प्रभावित रहे। बाद में वे मार्क्स और लेनिन की विचारधारा की ओर झुक गए थे।

प्रसाद-प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भ के कहानीकारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और पं. ज्वाला दत्त शर्मा के नाम भी उल्लेखनीय हैं। गुलेरी जी की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में भावुक वीर तथा कर्त्तव्य-परायण लहनासिंह के पवित्र प्रेम और बलिदान का चित्रण है। सुन्दर ढंग से विकसित होने वाला, सुगठित, कुतूहलपरक नाटकीय कथानक, सजीव वातावरण, मार्मिक अन्त, संवादों तथा घटनाओं की योजना द्वारा पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण, पात्रानुकूल संवाद, मुहावरेदार सरल-जीवन्त भाषा और सांकेतिक अभिव्यक्ति इस कहानी की मुख्य विशेषताएँ हैं। गुलेरी ने केवल तीन कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु तीन कहानियों के बल पर वे हिन्दी के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना गए हैं। सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', पांडेय

बेचन शर्मा, 'उग्र', 'चतुरसेन शास्त्री', 'रायकृष्णदास', 'चण्डीप्रसाद, 'हृदयेश', 'गोविन्द वल्लभ पंत', 'वृन्दावन लाल वर्मा', 'जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', 'राधिकारमण प्रसाद सिंह', 'सियारामशरण गुप्त' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रेमचन्द-प्रसाद-काल के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

सुदर्शन और कौशिक प्रेमचन्द की शैली के कहानीकार हैं। दोनों ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अपनाकर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और पारिवारिक कहानियाँ लिखी है। चरित्र-चित्रण और भाषा की दृष्टि से भी ये दोनों प्रेमचन्द के निकट हैं। सुदर्शन ने मानव-जीवन के विविध पक्षों और अनेक सामाजिक सत्यों का चित्रण किया है। कौशिक जी ने अपनी कई कहानियों में पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनकी 'ताई' नामक चरित्र प्रधान कहानी हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध है। चरित्र-परिवर्तन उनकी कहानी में स्वाभाविक रूप से होता है। संवादों द्वारा पात्रों की मन:स्थिति पर कहीं-कहीं उन्होंने अच्छा प्रकाश डाला है। सुदर्शन के कहानी-संग्रहों के नाम हैं– 'परिवर्तन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', सुदर्शन-सुमन', 'पुष्पलता', 'सुप्रभात', 'नगीना', 'फूलवती', 'पनघट'। कौशिक जी की कहानियाँ 'गल्पमन्दिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम-प्रतिमा', 'कल्लोल' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुई है।

उग्र जी ('चाकलेट', 'चिनगारियां', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्जा', 'दोजख की आग', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर', 'पीली इमारत', 'चित्र-विचित्र', 'यह कंचन सी काया', 'कला का पुरस्कार' आदि के लेखक) की कहानियों में समाज और राजनीति का मार्मिक अंकन हुआ है। रूढ़ियों तथा राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दुष्प्रवृत्तियों पर उन्होंने तीव्र रोष प्रकट किया है। उसके पात्र सजीव-सबल होते हैं, संवाद प्राय: छोटे तथा स्पष्ट और भाषा वक्र होने पर भी सरल। उग्र जी ने कई तरह की कहानियाँ लिखी हैं–भावुकता तथा कल्पना से पूर्ण प्रतीकात्मक, समस्यामूलक और नाटकीय रेखाचित्र जैसी। चतुरसेन (राजकण, अक्षय आदि) ने अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों का अंकन किया है। राधाकृष्णदास ('सुधांशु' आदि) भाव प्रधान कहानियों के लेखक हैं। वे प्रसाद-पद्धति के कहानीकार हैं। रायकृष्णदासने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। लघु प्रकृति-चित्र भी उन्होंने कहीं-कहीं दिए हैं। उनकी भाषा संस्कृतपरक और प्रांजल है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ('नन्दन निकुंज', 'वन माला' आदि) की कहानियाँ भी लगभग इसी प्रकार की भाषा-शैली में लिखी गयी हैं–भावुकता, उच्च भावों की व्यंजना,

स्वल्प कथानक और अलंकृत भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। पं. गोविन्दवल्लभ पंतमें भी भावुकता तथा कल्पना की रंगीनी है, साथ ही यथार्थ की कटुता भी प्राप्त होती है। उनकी कहानियों में रोचकता भी काफी है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ('कलाकार का बल' आदि) मुख्यत: उपन्यासकार हैं। उनकी कहानियों में कल्पना तथा इतिहास का समन्वय होता है और सरल, स्वाभाविक भाषा–शैली होती है। प्राय: सभी कहानियाँ वर्णनपरक, बहिर्द्वन्द्वपूर्ण तथा आदर्शोन्मुख हैं। राधिकारमण प्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (किसलय, मृदुदल, मधुमयी आदि) की कहानियाँ भी मार्मिक तथा करुणापूर्ण हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा अलंकृत ही है। उनकी कहानियों का वातावरण प्राय: भावात्मकता तथा मार्मिकता से पूर्ण होता है। सियारामशरण गुप्तकी कहानियों में सरल रोचक शैली में कोमल भावों की अभिव्यक्ति हुई है। भगवती प्रसाद वाजपेयी (पुष्करिणी, खाली बोतल, हिलोर आदि) की कहानियों में प्राय: घटनाओं की सांकेतिक व्यंजना रहती है। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े हुए नर-नारियों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। इस समय के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं–विनोद शंकर व्यास, मोहनलाल महतो 'वियोगी' तथा शिवपूजन सहाय। सुमित्रानन्दन पंत और निराला जीने भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं। उपर्युक्त कहानीकारों में कौशिक, सुदर्शन, वाजपेयी आदि प्रेमचन्द के आदर्शों से प्रभावित हैं और राधिकारमण प्रसाद सिंह, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, द्विज आदि प्रसाद के आदर्शों से। कुछ कहानीकार अपना पृथक्क व्यक्तित्व रखते हैं और उन्हें इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

प्रसादोत्तर युग में निबंध लेखन

प्रसादोत्तर या प्रगतियुग में निबन्ध-साहित्य ने सबसे अधिक विकास किया। विषयों की संख्या और विविधता की दृष्टि से तो इस युग का मुकाबला ही नहीं। यह युग उथल-पुथल का युग है। दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, समाजवादी विचारों का आगमन हुआ। भारत स्वतंत्र होकर विभाजित हुआ। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला की ओर हमारा ध्यान गया। अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ भी पैदा हुईं। इन सब बातों की छाया निबन्धों में भी मिलती है। इस युगके चार निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार भवन्त आनन्द कौशल्यायन तथा यशपाल।

कौसल्यायन जी बौद्धभिक्षु थे और समाजवादी विचारों का इन पर बहुत प्रभाव था। निबन्ध तो इन्होंने बहुत नहीं लिखे, पर पृथक् विषय की दृष्टि से इनका महत्त्व है। 'जो न भूल सका' इनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिनमें सामाजिक विषमता, धार्मिक शोषण, आर्थिक उत्पीड़न के तीखे चित्र हैं। धर्म को यह शोषण का संगठित साधन बताते हैं और अमीरों के भवनों को गरीबों की हड्डियों की ईंटों और खून के चूने से बना मानते हैं। जनवादी लेखक होने से इनकी भाषा सरल है। प्रगतिवादी निबन्ध-साहित्य में यशपाल बेजोड़ हैं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष, 'गांधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात में बात', 'राम-राज्य की कथा' इन सभी पुस्तकों के नामों से भी पता चलता है कि ये समाजवाद के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। पुरानी परम्पराओं, समाज के ढांचे, धर्म की बुनियादों पर उन्होंने बड़े जोश के साथ वार किए हैं। इनका विश्वास है कि पुराने दर्शन और संस्कृति, मानव की उन्नति में रोड़े हैं। इसलिए इनका विरोध यह निडर होकर करते हैं। वर्तमान समाज में धन के गलत बँटवारे के कारण कोई राजा बन गया और कोई गुलाम। वे कहते हैं कि 'मानव की घृणा', मानव से मानव की शत्रुता, मानव द्वारा मानव का शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो।' सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में इन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए। विविधता की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को धनी बताया है।

जैनेन्द्र कुमार शुद्ध रूप से विचारक हैं। धर्म, युद्ध, न्याय, राष्ट्रीयता, दान की बात, दीन की बात, पैसा कमाई और भिखाई, गांधीवाद का भविष्य, रोटी का मोर्चा, संस्कृति की बात, उपवास और लोकतंत्र, दुःख, सत्यं शिवं सुन्दरं, साहित्य की सच्चाई, प्रगतिवाद, जड़चेतन, सम्पादकीय मैटर-इनके इन निबन्धों से विषय की विविधता का तो पता चलता ही है, यह भी पता चलता है कि लेखक समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, जीवन की यथार्थ उलझनों आदि किसी से भी बेखबर नहीं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–'जड़ की बात', पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' 'इतस्ततः'। इनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं–गांधीवाद, नैतिकता, संस्कृति-प्रेम, मौलिक विचार, स्वतंत्रता और सबल, संक्षिप्त गठी हुई शैली। व्यक्तित्व और शैली को निबन्ध का प्राण मानें, तो जैनेन्द्र जी एक महान् लेखक हैं। भाषा सरल, हाट-घाट-बाट की है, लेकिन उसमें अर्थ गजब का मिलेगा। इनकी शैली के लिए कुछ अवतरण देखिए–

व्यवस्था का दल कागजी है।
काम उसके दफ़्तरी है।
मत पता लगने दो कि नीचे जान है।
दिलेरी डर से पैदा होती है।

उस नीयत का मुँह बाहर चाहे न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है, जरूर।

निबन्धकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। इनके निबन्ध देश-दशा, राजनीति, यात्रा-वृत्तान्त तथा इतिहास को लेकर ही होते हैं। देश-दशा और राजनीति से सम्बन्धित निबन्धों के एक संग्रह का नाम है–'तुम्हारा क्षय'। इस संग्रह के सभी निबन्धों का निष्कर्ष यह है कि जो रूढ़िवादी है, जो रास्ता रोककर खड़े हैं, उनका क्षय हो। इनके कुछ संस्मरणात्मक निबन्धों के संग्रह ये हैं बचपन की स्मृतियाँ, जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी, राहुल जी का अपराध आदि। राहुल जी के असली व्यक्तित्व और निबन्धकार की आत्मा का यदि दर्शन करना हो तो उनका 'घुमक्कड़ शास्त्र' पढ़ना चाहिए।

राहुल जी जैसी मस्ती और जैनेन्द्र कुमार जैसी शैली की झलक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के निबन्धों में मिलती है। इनके निबन्धों के 6 संग्रह हैं–'जिन्दगी मुस्कराई', 'आकाश के तारे', 'धरती के फूल', 'दीप जले' 'शंख बजे', 'माटी हो गयी सोना', 'महके आँगन, चहके द्वार' तथा 'बूँद-बूँद सागर लहराया'।

आधुनिक निबन्धकारों में विद्यानिवास मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अधिकतर ललित निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में कविता और पाण्डित्यपूर्ण शास्त्र का आनन्द एक साथ मिलता है। इनके तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं–(1) छितवन की छाँह, (2) कदम की फूली डाल तथा (3) तुम चन्दन हम पानी। नये निबन्धकारों में प्रभाकर माचवे, नामवर सिंह, हरिशंकर परसाई, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, शरद जोशी, श्री लाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रभाकर माचवे के निबन्धों के संग्रह का नाम है–'खरगोश के सींग' और नामवर सिंह का निबन्ध-संग्रह है–बकलम-खुद'। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्धों में मस्ती और जान है। 'भूत के पाँव' 'सदाचार का ताबीज' और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य लेख संग्रहीत हैं। विद्या निवास मिश्र का 'छितवन की छाह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी' 'बनजारामन' और 'मेरे राम का मुकुट' भीग रहा है', कुबेर नाथ राय का 'प्रिया-नीलकंठी', 'गन्ध मादन',

'माया बीज', विवेकी राय का 'आम रास्ता नहीं है', 'देवेन्द्र सत्यार्थी का 'एक युग का प्रतीक' हरिशंकर परसाई का 'शिकायत मुझे भी है' हरीशनवल का 'बागपत के खरबूजे आदि प्रसिद्ध निबन्ध संकलन हैं।

हिन्दी निबन्ध लेखन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है, लेकिन इधर कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में नये लेखकों का आगमन बहुत कम हुआ है। ललित भावात्मक, विचारात्मक निबन्ध लेखन की प्रवृत्ति कम हुई है और जो लिख भी रहे हैं वे पुराने पीढ़ी के ही लेखक हैं। नये लेखकों की निबन्ध लेखन की ओर से यह उदासीनता अत्यन्त चिन्ताजनक है।

हिन्दी निबन्ध का जन्म भारतेन्दु-काल में हुआ। यह नवजागरण का समय था। भारतीयों की दीन-दु:खी दशा की ओर लेखकों का बहुत ध्यान था। पुराने गौरव, मान, ज्ञान, बल-वैभव को फिर लाने का प्रयत्न हो रहा था। लेखक अपनी भाषा को भी हर प्रकार से सम्पन्न और उन्नत करने में लग गए थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि इस काल के लेखक स्वतंत्र विचारों के थे। उनमें अक्खड़पन और फक्कड़पन भी था। ऐसा युग निबन्ध के बहुत अनुकूल होता है, इसलिए इस युग में जितने अच्छे निबन्ध लिखे गये, उतने अच्छे नाटक, आलोचना, कहानी आदि नहीं लिखे गए।

❐❐❐